

## प्राक्कथन

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।  
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥

(विष्णुपुराण 2.3.1)

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारत भूमिभागे ।  
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

(विष्णुपुराण 2.3.24)

दुर्लभं भारते जन्म पुरुषस्य च वा पशोः ।  
विहंगस्य चवाजन्तोः वृक्षपाषाणयोरपि ॥  
अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने ।  
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥

(विष्णुपुराण 2.3.22)

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम ।  
कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥

(विष्णुपुराण 2.3.23)

देशः पृथ्वी तस्यां हिमवत् समुद्रान्तरम् उदीच्यात् ।  
योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम् ॥

(कौटिल्यः)

उपर्युक्त तथा अन्य सहस्रों वाक्य यह स्पष्टतया सिद्ध करते हैं कि उत्तर के हिमालय से लेकर दक्षिण के रामसेतु तक भारत सदा एक राष्ट्र रहा है। यहाँ के निवासी अपने राष्ट्र से कितना प्रेम करते हैं यह भी द्रष्टव्य है। परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते। उनके विचार में यहाँ के राजा सदा आपस में लड़ते रहे हैं। इतिहास इसका साक्षी है। अतः, इसे एक राष्ट्र कैसे कहा जा सकता है? ऐसा वही लोग कह सकते हैं जो राष्ट्र और राज्य के भेद से अनभिज्ञ हैं। राज्य की सीमाओं का विस्तार करना राजा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। शास्त्रानुसार 'असंतोषी ब्राह्मण तथा संतोषी राजा—ये दोनों ही नष्ट

हो जाते हैं-असंतुष्टो द्विजो नष्टः संतुष्टो हि महीपतिः'। चाहे विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के राज्य रहे हों चाहे उनमें राजाओं के बीच युद्ध चलते रहे हों, परन्तु उत्तर के हिमालय से दक्षिण के समुद्र तक भारत सदा एक राष्ट्र रहा है। वेद घोषित करते हैं:-“साम्राज्यं भोज्य स्वराज्यं वैराज्य पारमेष्ठीं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यं पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्”- साम्राज्य, भोज्य इत्यादि विभिन्न प्रकार के राज्य हैं। फिर भी यह एक राष्ट्र है। “वयं राष्ट्रे जाग्रियाम पुरोहिताः”- इस एकता की रक्षा के लिए पुरोहितों को वेदों का हितवचन यह है कि हम पुरोहितों को जागृत रहना चाहिए। सावधान रहना चाहिए। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस अर्थ में भारत एक राष्ट्र है? इसका उत्तर यह है कि इस देश के सभी लोगों का जीवन-उद्देश्य समान है। सभी का यह दृढ विश्वास है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष ही है; और इस लक्ष्य से अविरोध जीवन जीना ही उनका ध्येय है। यही कारण है कि यहाँ के वासी देशभर में स्थित अग्नित तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनकी उत्कट इच्छा है कि वे यहाँ की सभी नदियों में स्नान करें क्योंकि इस देश की सभी नदियों में लोगों के पाप धोने का सामर्थ्य है।

इलाहाबाद का कुम्भमेला तो सभी को आकर्षित करता है। पूरे देश में इस समान जीवन-शैली को बनाए रखने में हमारे शास्त्रों-वेद, पुराण, महाभारत आदि की अहम् भूमिका रही है। यहाँ के ऋषि, मुनि तथा विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य एवं अन्यान्य विद्वान् राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की यात्रा करके लोगों को धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधने का महत्वपूर्ण कार्य सदा करते रहे हैं। ये महापुरुष राजाओं को राजनीति, युद्धनीति तथा धर्मनीति का अपदेश कर सुष्ठु शासनव्यवस्था स्थापित करने में सहयोग देते हैं। राजाओं की राज्याकांक्षा का सदुपयोग करते हुये देश को एक बनाये रखने के लिये एकछत्राधिपत्य-अश्वमेध यज्ञ की अवधारणा भी शास्त्रों ने की है। इस प्रकार की राष्ट्रीयता से भरपूर भक्ति आज भी देखने को मिलती है। 68 वर्ष पहले, लगभग पचीस शताब्दियों के अनवरत संघर्ष के पश्चात् देश स्वतन्त्र हुआ। तब लगभग 600 राजाओं ने स्वेच्छा से अपने राज्यों को केन्द्रिय शासन के अधीन कर दिया। ऐसा विस्मयकारी कार्य विश्व में और कहीं

दृष्टिगत नहीं होता। सरकार ने जब घोषणा की कि “भूमि जोतने वाले की ही है”, तो जमींदारों ने अपनी भूमि सरकार को सौंप दी। इस प्रकार का त्याग पूरे संसार में और कहीं देखने को नहीं मिलता।

दूसरे किसी देश में ऐसी नीति लागू की जाती तो शायद खून की नदियाँ बह जातीं। इस सबसे यह स्पष्ट है कि भारत एक राष्ट्र था, एक राष्ट्र है और एक राष्ट्र रहेगा। आधुनिक विद्वान्, जो इस देश तथा धर्म के स्वरूप को जानना चाहते हैं, जब तक पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं करते तब तक वे इसे नहीं समझ सकते।

शास्त्र यह भी बताते हैं कि सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषि-मुनियों ने जिस उत्कृष्ट व्यवस्था को आरंभ किया था वह समय बीतते-बीतते शिथिल होती जाती है। सत्युग में धर्म चारों पदों पर दृढ़ खड़ा होता है। आगामी युगों में उसके एक-एक पद का क्षय होता जाता है और अन्त में कलियुग में धर्म एक ही पैर पर खड़ा रह जाता है। कलियुग के आरंभ होते ही अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित ने एक अत्युच्च कुलोद्भव सम्राट होते हुये भी, एक ग्रामीण, अबुद्ध व्यक्ति के समान आचरण करते हुये, ध्यानस्थ शमीक मुनि के गले में एक मृत सर्प केवल इसलिये डाल दिया क्योंकि उन्होंने उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था। यदि कलियुग एक कुलीन राजा पर ऐसा प्रभाव डाल सकता है तो सामान्य जनता के विषय में क्या कहना? कलियुग में लोगों की वेदों पर श्रद्धा कम होती जाती है और उन्हें अपनी अल्पमति पर अधिक विश्वास रहता है। वर्णाश्रम व्यवस्था, जो एक स्वस्थ समाज का आधार है, धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जाती है। ऐसे में कुछ चतुर लोग, जो केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं, अपने व्यक्तिगत और स्वतन्त्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगते हैं। आरंभ में ये सिद्धान्त सांख्यादियों के समान वेदों को पूरी तौर पर नहीं छोड़ते। परन्तु बाद में जैन विचारकों के समान वेदों का पूरी तरह परित्याग कर देते हैं। फिर आगे सुगत के समान वेदविरुद्ध स्वतन्त्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने लगते हैं।

ये वेदविरुद्ध सिद्धान्ती अपनी-अपनी श्रेष्ठता बनाये रखने के लिए अलग-अलग दल संगठित करते हैं। जिस दल में जितने अधिक सदस्य होते

हैं उतनी अधिक उसकी मान्यता मानी जाती है। अतः ये येन केन प्रकारेण अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रयास में छल, कपट, बल तथा हिंसा का भी प्रयोग करने से नहीं कतराते। फलतः समाज में अशान्ति छा जाती है और सामाजिक व्यवस्था भंग होती है। विगत 2500 वर्षों से भारत में यही हुआ है। पतन की गति उस समय तीव्र हुयी जब बुद्ध वेद के विरोध में खड़े हुए। हमारे मत में तो इस सारी अव्यवस्था का सूत्रपात बुद्ध से ही हुआ है। कुछ आधुनिक विद्वान् इसे बिल्कुल मानने को तैयार नहीं हैं। ये विद्वान् उन सभी तथ्यों को, जो बुद्ध को वेद-विरोधी सिद्ध करते हैं, स्वीकार नहीं करते। बुद्ध के पश्चात्, लगभग तीन शताब्दियों तक, बौद्धधर्म केवल मगध प्रदेश तक ही सीमित रहा। तत्पश्चात् उसके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती गयी और अनेक बौद्ध विद्वानों ने बौद्धधर्म सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की। इन सबमें अलग-अलग मत देखने को मिलते हैं, लेकिन सभी अपने को बुद्ध की वाणी होने का दावा करते हैं। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से उनका वेदविरुद्ध होना स्पष्टतया सिद्ध होता है। कुछ आधुनिक शोधकर्ताओं का यह मत है कि बुद्ध स्वयं वेदविरोधी नहीं थे परन्तु उनके अनुयायियों ने उनको गलत समझा। इस सम्बन्ध में भी बौद्ध विद्वानों का मतैक्य नहीं है। इसलिये, इस प्रकार के अन्तहीन विवाद से कोई लाभ नहीं है। भविष्य में यदि यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि बुद्ध वेदविरोधी नहीं थे तो यह हमारे लिये संतोषप्रद ही होगा। इतिहास साक्षी है कि गत 2000 वर्षों में रचित बौद्धग्रन्थों ने तो समाज और देश की दुर्गति ही की है। बौद्धधर्म को अपनाने वाले राजा युद्धों से विरत हो क्लीव बन गये। संघ को सहयोग देने के बुद्ध के आदेश का पालन करते हुये राजाओं ने बलपूर्वक प्रजा को बौद्धधर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया। जो बौद्ध वैदिक धर्म का नाश करना चाहते थे उन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों की सहायता की। अहिंसा के कट्टर समर्थक होने के कारण उन्होंने आमिषभोजी जनसमुदाय को अछूत बना दिया। इस प्रकार राष्ट्र का नाश करके, वे स्वयं भी उन हून और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा, जिनकी उन्होंने सहायता की थी, नष्ट कर दिये गये।

इन कारणों से ही भगवान् शंकराचार्य ने अत्यन्त कड़े शब्दों में बौद्धमत की आलोचना की है। बौद्धों के दुर्व्यवहार से प्रजा अत्यन्त दुःखी थी। ऐसे समय में, आपद् धर्म का पालन करते हुये पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण ने एक देशभक्त राजा के कर्तव्य पालन करते हुये शत्रुओं को बाहर खदेड़ दिया और देश-द्रोही बौद्धों का दमन करके एकचक्राधिपत्य स्थापित किया। योगसूत्र प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने उनसे अश्वमेध यज्ञ करवाया था।

आज से लगभग तेरह शताब्दी पूर्व तक बौद्धधर्म कुछ एक विद्वानों तथा कुछ अनजान लोगों तक ही सीमित था। परन्तु बुद्ध द्वारा प्रतिपादित दोषपूर्ण सिद्धान्तों ने धीरे-धीरे व्यक्तिपरक विचारधाराओं को जन्म देना प्रारंभ कर दिया जिससे समाज में अलग-अलग पंथ और अंधविश्वास उभरने लगे। वेदाध्ययन कुंठित हो गया और वर्णाश्रम व्यवस्था गड़बड़ा गयी। उसे पुनः स्थापित करने के लिये ही आचार्य शंकर का आविर्भाव हुआ। लेकिन यह कथन आधुनिक बुद्धिजीवियों के गले नहीं उतरता। इसमें कुछ नया नहीं है। इसका आरंभ तो स्वयं बुद्ध से ही हो गया था। उनके अनुसार, वह वर्णव्यवस्था जिसे लोग आज तक स्वीकार करते आये हैं ठीक नहीं है। इसलिये उसकी रक्षा करने का कोई औचित्य नहीं है। आखिर वर्णधर्म का अर्थ क्या है? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कुल में जन्मा व्यक्ति उस वर्ण का कहलाता है। शास्त्र प्रत्येक वर्ण के लिये अलग-अलग कर्म और जीवन-विधान का निर्देश करता है। तदनुसार जीवन जीना ही वर्णाश्रमधर्म कहलाता है। उनके अनुसार यह कथन वास्तविकता से मेल नहीं खाता, क्योंकि शास्त्रों में प्रत्येक वर्ण के लिये जिन-जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे गुण केवल उन्हीं वर्णों के लोगों में नहीं पाये जाते बल्कि दूसरे वर्णों में जन्में लोगों में भी पाये जाते हैं इसीलिये, किसी भी व्यक्ति के वर्ण का निर्णय उसके गुणों के आधार पर ही किया जाना चाहिये न कि उसके जन्म के आधार पर।

इस विवाद पर हमें सन्तुलित मन से विचार करना चाहिये।

इस विमर्श से पूर्व हमें यह विश्लेषण करना है कि ऐसा तर्क करने वाले, विरोद्ध करने पर भी, क्या-क्या स्वीकार करते हैं। जितना पक्ष उनको

स्वीकार्य है उतना निश्चय करने के पश्चात् फिर शेष बचे विषयों का निश्चय करना है। उनका तर्क यह स्वीकार करता है कि एक सुष्ठु समाजव्यवस्था के लिये चतुर्वर्णीय विभाजन आवश्यक है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यह विभाजन गुणों के आधार पर होना चाहिए और शास्त्र जिस गुण को जिस वर्ण के लिये निश्चित करते हैं वही गुण उस व्यक्ति का वर्ण निश्चित करता है। एतावता विचार का विषय यह रह जाता है कि वर्ण का निश्चय उसके वर्तमान गुणों के आधार पर करना है या उसके जन्म के आधार पर। उनका कहना है कि वर्ण का निश्चय आचरण और चरित्र के आधार पर होना चाहिए न कि जन्म के आधार पर।

यह कथन कहाँ तक सही है? यह स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस और तमस, ये तीनों गुण प्रत्येक व्यक्ति में पाये जाते हैं और संदर्भानुसार अभिव्यक्त होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कभी सात्त्विक, कभी राजसिक और कभी तामसिक रूप से व्यवहार करता है। एक ही गुण, अलग-अलग व्यक्तियों में, अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त होता है। उदाहरण के लिये, तमोगुण एक व्यक्ति को आलसी बनाता हुआ निश्चेष्ट कर सकता है। किसी और व्यक्ति को यही तमोगुण निद्रा में भेज सकता है और किसी को मदिरापान की तरफ भेज देता है। रजोगुण के प्रभाव में कोई क्रोध करता है, किसी की केवल भृकुटी तन जाती है, तो कोई मार-पीट करता है, और कोई किसी का वध तक कर सकता है। इसी प्रकार सत्त्वगुण की अधिकता में कोई व्यक्ति प्रेम से अपने बच्चे का आलिंगन करता है तो कोई शास्त्र का अध्ययन करता है और कोई ध्यान करता है। यह असमानता क्यों रहती है? यह निर्भर करती है बाकी दोनों गुणों की मात्रा पर। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुणों के रहने पर भी, ये अलग-अलग व्यक्तियों को अलग-अलग प्रकार से व्यवहार करने के लिये प्रेरित करते हैं। इतना ही नहीं, एक ही गुण के प्रभाव में एक ही व्यक्ति अलग-अलग समयों पर अलग-अलग व्यवहार करता है। प्रत्येक व्यक्ति में रहने वाले गुणों का परिमाण क्या है? गुणों के परिमाण किस गति से किस दिशा में बदल रहे हैं? इन सब का निश्चय यदि हम एक व्यक्ति को देखने मात्र से ही कर सकते तो शायद हम उसके वर्ण का निर्धारण कर पाते। परन्तु ऐसा करना क्या मानवप्रयास से संभव है? क्या कोई वैद्य नाडी

परीक्षण करके एतद् विषयक प्रमाणपत्र दे सकता है? अथवा क्या किसी यन्त्र की सहायता से यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है? यदि कोई ऐसा कर भी पाये तो क्या दूसरे उसके निर्णय को स्वीकार करेंगे? निर्णय सही है या गलत यह कौन तय करेगा? अगर हम स्वयं ही अपने वर्ण को तय करने लगे तो क्या इससे समाज में अव्यवस्था नहीं फैलेगी जबकि वर्णधर्म का उद्देश्य तो समाज में शान्ति और सौहार्द्र स्थापित करना है?

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा होती है कि एक व्यक्ति के गुणों का निश्चय कौन, किसलिए और कैसे कर सकता है? भगवान् के सिवा इसका निर्धारण करने वाला और कौन हो सकता है? जो किसी मानव के द्वारा नहीं किया जाता उसका करने वाला केवल भगवान् ही होता है। असल में भगवान् की परिभाषा ही यही है। जगत और उसमें रहने वाले प्राणियों की सृष्टि केवल सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् प्रभु ही कर सकते हैं। यह कार्य किसी अन्य के द्वारा अशक्य है। मानव तो मनचाहे कर्म करता हुआ उनके फल भोगने को लाचार है। परन्तु ईश्वर, जो कर्म या उसके फल से मुक्त है, मानव के गुणों का और गुणों के प्रभाव से किये गये कर्मों का सदैव साक्षी है। इसलिए, सब भूतों में अवस्थित ईश्वर ही व्यक्तिविशेष के स्वाभाविक गुण का निर्णय कर सकते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि गुणों का निर्धारण क्यों किया जाये? इसका उत्तर यह है: 'हम गुण और कर्मों के जटिल जाल में उलझे हुए हैं। परम शान्ति की प्राप्ति के लिये गुणातीत होना आवश्यक है। केवल ईश्वर ही है जो हमें इस दलदल से निकालकर शाश्वत आनन्द में बसा सकते हैं। इस मोक्ष-स्थिति के लिये स्वीकृति देने वाले मानव को मोक्ष की प्राप्ति के लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त करने के लिये, ईश्वर द्वारा निर्धारित कर्म करने होते हैं। ऐसे में हमें जो कर्म करने हैं वह हमारे स्वाभाविक गुणों पर आधारित होने चाहिए और उन कर्मों में उन गुणों को नियमित करने का सामर्थ्य भी होना चाहिए। परन्तु हम इन दोनों से अनभिज्ञ हैं कि वे गुण कौन से हैं और कर्म के द्वारा कैसे गुणातीत हुआ जा सकता है। इनका निश्चय केवल सर्वसमर्थ ईश्वर ही कर सकता है। भगवान् हमारे गुणों का निर्धारण कैसे करते हैं? उन्होंने स्वयं इस विषय में बताया है कि गुण और कर्मों के बीच में एक अन्योन्याश्रय तथा

अटूट सम्बन्ध है। एक का प्रभाव सदा दूसरे पर पड़ता है। इसीलिये गुण अत्यन्त जटिल हैं। ईश्वर, जो सदैव मनुष्य के गुणों और कर्मों का साक्षी है, मृत्यु के समय उसके अगले जन्म के गुणों का निश्चय करता है और उपयुक्त परिवार में उसका जन्म कराता है। किन्तु माता-पिता के यहाँ जन्म लेने से मनुष्य प्रगति कर सकेगा, इसका निर्णय स्वयं भगवान् करते हैं। साथ ही साथ उस कुल के योग्य कर्म भी उसके लिये निर्धारित करते हैं। भगवान् के बताये उन कर्मों को करने से मनुष्य उन्नति को और उनका तिरस्कार करने पर अवनति को प्राप्त करता है। भगवान् का कथन 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म विभागशः' (गीता 4/13) यह स्पष्ट करता है कि गुणों का मूल है हमारे गत जन्मों में उपार्जित संस्कार, परन्तु कर्म तो इस जन्म के लिये निर्देशित हैं। चूंकि बुद्ध ने ईश्वर को छोड़ दिया था, वह पथ जो इस निर्णय तक ला सकता था, उनके लिये बन्द था।

अब तक वर्णधर्म की चर्चा की गयी। अब आश्रमधर्म क्या है? विवेकी पुरुष यह जानते हैं कि जीवनपर्यन्त श्रम अनिवार्य है- 'कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईश उपनिषद् मन्त्र 2)। श्रम किसलिए? मोक्षप्राप्ति के लिये। परन्तु मोक्ष में कोई सांसारिकता नहीं है और जब तक मनुष्य गुणों के प्रभाव में है वह सांसारिक जीवन नहीं छोड़ सकता। संसार से एकदम मोक्ष में जाना संभव नहीं है। मनुष्य को संसार में रहते हुए ही मोक्ष की तरफ बढ़ना है। इस दिशा में शास्त्र ने चार सोपानों का निर्देश किया है। ये हैं चार आश्रम। पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें मुख्य श्रम है अध्ययन। इस आश्रम में कम से कम उसे मोक्षसिद्धांत से परिचय जरूर हो जाना चाहिए। दूसरा है गृहस्थ आश्रम। इस स्तर का परिश्रम है ऐसे कर्म करना जो मन को मोक्ष के लिये तैयार करते हैं। तीसरा है वानप्रस्थ आश्रम। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति गुणों के बल से प्रेरित हो सांसारिक सुख भोगता है, तत्पश्चात् विवेक आने के बाद वह वन में जाकर मोक्षप्राप्ति के लिये कठिन तपस्या करता है। यही इस आश्रम का श्रम है। जब यह प्रयास परिपक्व हो जाता है तो व्यक्ति को सम्पूर्ण वैराग्य हो जाता है और वह अपना आगे का जीवन सदैव भगवान् के चिन्तन में बिताता है। यह है अन्तिम संन्यास आश्रम। इन आश्रमों के द्वारा मनुष्य क्रमानुसार सत्कर्मों द्वारा अपने गुण बदलता जाता है और फिर मोक्ष



को, जो कि गुणातीत है, प्राप्त करता है। इसलिए, एक व्यक्ति का अपने लिये यह कहना गलत है कि 'मुझ में अन्य वर्ण के गुण हैं और इसलिये मैं उस वर्ण के कर्म ज्यादा अच्छे कर सकता हूँ, अतः मैं उसी वर्ण के कर्म करूँगा'-'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'-अगर कोई व्यक्ति उचित ढंग से अपने वर्ण के कर्म सम्पादित नहीं कर सकता, तो भी अपने वर्णोचित कर्मों को करने का प्रयास अपने आप में उसके लिये कल्याणकारी है। दूसरे वर्ण के कर्म करना हानिकारक है। अपने वर्ण के लिये निर्धारित कर्म करना ही आगे बढ़ने का साधन है।

यहाँ एक और अंश की तरफ ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्रानुसार केवल वैश्यों को ही धनसंचय की अनुमति है। यदि केवल इसीलिए ये तर्क दिए जा रहे हैं तो वे निरर्थक हैं। इसका कारण है कि अपरिहार्य स्थितियों में शास्त्र जीवनयापन के लिये एक व्यक्ति को दूसरे वर्ण की वृत्ति अपनाने का अवकाश देता है। उपयुक्त लगने पर अगर उसी वृत्ति का पाँच पीढ़ियों तक पालन किया जाता है तो वे उसी वर्ण के हो जाते हैं। प्रतिबन्ध केवल आमुष्मिक कर्मों के विषय में हैं।

यह कैसे कहा जा सकता है कि केवल वर्णधर्म के पालन से ही समाज में शान्ति और समृद्धि बनी रह सकती है? जरा विचार करके देखिए। हमारा देश गत 2500 वर्षों से लगातार विदेशी आक्रमणों का शिकार रहा है। यदि भारत में समृद्धि नहीं होती तो फारसी, यूनानी, यवन, हूण, शक, अरब, अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच सब भारत पर आक्रमण करने नहीं आते। इस समाज के अन्तःबल की तरफ देखिए-दस शताब्दियों के मुसलिम शासन और दो शताब्दियों के अंग्रेज कुशासन ने लूटमार, हिंसा, धोखाधड़ी और अमानवीय व्यवहार के द्वारा इस राष्ट्र को नष्ट करने की कोशिश की, परन्तु इसके बावजूद यह राष्ट्र जीवित है। केवल जीवित ही नहीं, उन्नति की ओर अग्रसर है। क्या किसी अन्य राष्ट्र को ऐसा गौरव प्राप्त है? इस राष्ट्र के शत्रु कुकुरमुत्तों की भाँति उपजे, फूले और नष्ट हो गये। उनकी आयु केवल एक-दो शताब्दी रही। भारत जीवित है और अमर है। यह स्पष्ट विचार भी हमारे कुछ बुद्धिजीवियों को दिखायी नहीं देता। अन्धे होकर वे हमारे शत्रुओं

से मिलकर हमारी वर्णाश्रम व्यवस्था को नष्ट करने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु धर्मावलंबियों को इससे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। अभी तक न जाने कितने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावण, कंसादिकों ने तथा मुसलमानों और अंग्रेजों ने धर्म को आघात पहुँचाने का प्रयत्न किया परन्तु सब चट्टान से टकराने वाले मिट्टी के ढेले के समान नष्ट हो गये। यद्यपि हमें इन अविवेकी साथियों की अपने धर्म के अन्तः बल को पहचानने की असमर्थता पर दुःख होता है, परन्तु उनकी अविवेकता हमारे धर्म को कोई हानि नहीं पहुँचा सकती।

यह सत्य है कि कौसी भी व्यवस्था क्यों न हो, काल उसको ढीला कर ही देता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली धार्मिक विधियों का पालन भी शिथिल हो जाता है। यह प्रकृति का नियम है। इसलिये, जब भी व्यवस्था में दोष नजर आयें तो उनके निवारण का प्रयत्न करना चाहिए। अनादि काल से चली आ रही व्यवस्था को नष्ट नहीं करना चाहिए। सिरदर्द का उपचार सिर काट देना नहीं है। वर्ण समाजपुरूष के अंग हैं। वर्णधर्म इस समाज का लहू है। उन लोगों में भी, जिन्होंने ईसाई अथवा इस्लाम धर्म में परिवर्तन कर लिया है, यह धर्म किसी न किसी रूप में कायम रहा है। बाली द्वीप के निवासी आज भी गर्व से कहते हैं कि वे वर्णधर्म के अनुयायी हैं। इसलिए, समाज के शुभचिंतकों एवं बुद्धिजीवियों के लिये यही हितकारी है कि वे इस व्यवस्था का मार्जन करते हुए उसे साध्य बनाएं। इस विषय में एक उदाहरण देखिए:-जापान में विद्युत्प्रसारण के लिये लगाए गये खंभों के तारों पर पक्षी घोंसला बना लेते थे। अक्सर बिजली के झटके से पक्षी मर जाते थे और विद्युत्प्रसारण बन्द करना पड़ता था। पहले कर्मचारियों ने पक्षियों को मारकर हल निकालने का प्रयत्न किया। फिर भी पक्षियों ने घोंसले बनाने बन्द नहीं किये। तत्पश्चात् वैज्ञानिकों से कोई उपाय खोजने को कहा गया। हर दृष्टिकोण से समस्या का विश्लेषण करने के बाद उन्होंने यह परामर्श दिया कि बिजली के खंभों के साथ-साथ (parallel) ही पक्षियों को घोंसला बनाने की सुविधा दी जाये। ऐसा किया गया; समस्या हल हो गयी और पक्षियों के प्राण भी बच गये। इसी प्रकार हमारे समाज के बुद्धिजीवियों को भी सोच-विचार कर वर्णव्यवस्था में आयी त्रुटियों का

निष्पक्ष चिन्तन करते हुए समाधान निकालने चाहिए जिससे समाज में शान्ति और सौहार्द स्थापित हो पाये।

कुछ विचारकों के अनुसार वर्णव्यवस्था ने समाज में ऊँच-नीच की भावना स्थापित की जो कि धर्मपरिवर्तन का मुख्य कारण है। परन्तु इतिहास कुछ और ही कहता है। बौद्ध धर्म, जिसने वर्णव्यवस्था को नकार दिया था, सिंध, गान्धार और बंग देश तक फैल गया था। मुसलमानों के आक्रमण के बाद, इन क्षेत्रों में रहने वाले बौद्ध धर्मपरिवर्तन करके मुसलमान बन गये। ये क्षेत्र वर्तमान के पाकिस्तान और बँगलादेश हैं। लेकिन, जिन राजाओं ने वैदिक वर्णव्यवस्थाओं को बनाये रखा, उनके राज्यों में ऐसा नहीं हुआ। उनमें एक राज्य था मगध जो आज का बिहार है। त्रिपुरा राज्य में हिन्दू धर्म आज भी अपना अस्तित्व बनाए हुए है। इसका कारण है वहाँ के ब्राह्मणों द्वारा अत्यन्त बुद्धिमानी से वर्णधर्म को बचाये रखना। केवल इतना ही नहीं, शंकराचार्य के समय से पूर्व, जो चाण्डाल जाति के लोग बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो गये थे, वहाँ प्रचलित अस्पृश्यता से निराश होकर अपने मूल वैदिक धर्म में लौट आए। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि वैदिक धर्म में कोई ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं है। हमारे लोगों का इस्लाम धर्म में परिवर्तित होने का कारण है मुसलमानों द्वारा हिंसा और बल का प्रयोग। ईसाइयों ने यही कार्य छल-कपट एवं प्रलोभन देकर किया। इतना होने पर भी, यह सर्वविदित है कि परिवर्तन के बाद भी इन धर्मों ने कभी इन नये प्रवेशियों को समान दर्जा नहीं दिया बल्कि सदा हीन ही माना है। इसलिए यह कहना निराधार है कि वैदिक धर्म में प्रचलित ऊँच-नीच के भेदभाव के कारण हमारे लोगों ने धर्म परिवर्तन किया।

धर्मपरिवर्तन का जो भी कारण रहा हो, यह आवश्यक है कि परिवर्तितों को स्वधर्म में वापिस लाया जाए। नवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही सिन्धु देश के महात्मा देवल ने एतद्विषयक राजाज्ञा प्रसारित की थी, जिसे बाद में मेधातिथि ने आगे बढ़ाया। ये दोनों ही महापुरुष शंकराचार्य के समकालीन थे और सम्भवतः उन्होंने शंकराचार्य के कथन 'चण्डालोऽस्ति स तुद्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम' से प्रेरणा प्राप्त की होगी। बाद में अनेक सन्तों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। समर्थगुरू रामदास के निर्देशन में शिवाजी महाराज

ने और स्वामी विद्यारण्य की प्रेरणा से विजयनगर के हुक्का-बुक्का शासकों ने प्रशंसनीय कार्य किया। आधुनिक संचार तथा बेहतर यातायात सुविधाओं के कारण वैदिकधर्म विश्व में सर्वत्र लोकप्रिय हो रहा है। अमरीका के सत्तर प्रतिशत लोग हिन्दू देवी-देवता, पुनर्जन्म और योग में विश्वास एवं रुचि के कारण अपने को हिन्दू मानते हैं। पश्चिमी देशों में ईसाई धर्म का ह्रास हो रहा है। अरब देशों में उपद्रव इस बात का संकेत है कि उनकी सम्प्रदायिक विचारधारा के अन्त का प्रारंभ हो गया है। हमारे अपने देश में इन सम्प्रदायों के अनुयायी अपने प्राचीन धर्म में लौटने को उत्सुक नजर आते हैं। अपने स्वधर्म के प्रति उनका प्रेम, जो अभी तक अव्यक्त था, अब उभर रहा है।

हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिये शंकराचार्य जी की पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती परिस्थितियों का इतना ही विश्लेषण पर्याप्त है। अब इस पुस्तक के विषय में जो शंकराचार्य जी के जीवन चरित्र को एक रोमांचकारी उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करती है। हमारे समाज के भव्य इतिहास में संन्यासियों का बहुत कम उल्लेख देखने को मिलता है। इसीलिये शंकराचार्य के समय में भी कुछ लोग तर्क करते थे कि संन्यासधर्म श्रुत्युक्त नहीं है और केवल बाद में स्मृतिग्रन्थों द्वारा इसे प्रतिपादित किया गया। शंकरभाष्य ने स्पष्ट किया है कि यह कथन गलत है। संन्यासी हमेशा रहे हैं परन्तु अपनी जीवनशैली के कारण उन्होंने कभी आम लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं किया। शास्त्रों के अनुसार, संन्यासियों को त्यागवृत्ति का आश्रम ले, भिक्षा से पेट भरते हुये, किसी निर्जन स्थान में निवास करना होता है। परन्तु जब भी धर्म का ह्रास होता था वे अपने एकान्तवास से निकलकर आपद्धर्म का पालन करते हुये आश्चर्यजनक कार्यों को सम्पन्न करते थे। शंकराचार्य से बारह शताब्दी पूर्व, सिकन्दर के आक्रमण के समय, हमें दण्डी संन्यासियों द्वारा किये गये विस्मयकारी कार्यों का विवरण मिलता है। आज तक भी दण्डी संन्यासी एवं उनके संगी इस परम्परा को निभाते रहे हैं। मधुसूदन सरस्वती, समर्थ रामदास जिन्होंने शिवाजी महाराज का मार्गदर्शन किया, सन्त विद्यारण्य जिन्होंने हुक्का-बुक्का का मार्गदर्शन किया, झाँसी की रानी के मार्गदर्शक गुरु गंगानाथ, ये सब इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे वैरागी ही थे जिन्होंने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की मनोभूमि तैयार की थी।

श्री मधुसूदन सरस्वती के जीवन की एक घटना इस प्रकार है:- उस समय अकबर राजा थे और बीरबल उनके मन्त्री थे। अकबर राणा प्रताप के कट्टर शत्रु थे। राणा प्रताप ने स्वधर्म की रक्षा के लिये अपने राज्य समेत सब कुछ न्यौछावर कर दिया था। बीरबल, जो राणा प्रताप के सम्बन्धी थे, इस बात पर दुःखी थे कि वे इस नृशंस कृत्य के बाद भी अकबर के मन्त्री बने हुये थे। इसके प्रायश्चित के लिए वे कुछ न कुछ करने को व्याकुल थे। इसका अवसर उन्हें तब प्राप्त हुआ जब उन्होंने सुना कि मुसलमान फकीर संन्यासियों पर आक्रमण करके उनकी बर्बर हत्या कर रहे हैं। उपयुक्त समय पर, जब अकबर उनसे प्रसन्न थे, बीरबल ने उनके सामने यह विषय उठाया। अकबर ने यह कहकर टाल दिया कि वह फकीरों और संन्यासियों के परस्पर मामले में दखल नहीं दे सकते। बीरबल ने फौरन अकबर से इस विषय में शाही फरमान जारी करवा दिया। फिर बीरबल ने यह फरमान बंगाल में मधुसूदन सरस्वती को यह कहते हुये सौंप दिया कि वे संन्यासियों की रक्षा में इसका उचित उपयोग करें। मधुसूदन सरस्वती इसको राजस्थान में एक राणा के पास ले गये और उससे एक वर देने की प्रार्थना की। राणा, जो इतने महान् संन्यासी के अपने महल में आने पर अत्यन्त प्रसन्न था कहा-“ आपको क्या वर चाहिए? अगर मेरे सामर्थ्य में हुआ तो अवश्य दूँगा।” सन्त ने उनसे सैनिकों की एक टुकड़ी माँगी। राणा पहले तो उनकी बात सुनकर भयभीत हुआ परन्तु जब मधुसूदन सरस्वती ने उन्हें अकबर का फरमान दिखाया तो उसने निर्भय होकर सैनिकों की एक टुकड़ी उनको दे दी। मधुसूदन सरस्वती ने उन सैनिकों को नागा साधुओं के रूप में दीक्षित किया और उन पर फकीरों से संन्यासियों की रक्षा का भार सौंपा। इन नागा सैनिकों ने फकीरों का सफाया कर संन्यासियों की रक्षा की। इस प्रकार इस समस्या का समाधान हुआ। कुछ विद्वानों के अनुसार नागा सम्प्रदाय के संस्थापक भी आचार्य शंकर ही थे। परन्तु एतद्विषयक कोई प्रमाण हमें नहीं मिला है।

शंकरविजय के कुछ पाठों में यह कहा गया है कि शंकराचार्य जी ने बौद्धों की हत्या कराई। यह गलत है। इसका सीधा-सीधा कारण है कि शंकराचार्य के समय तक बौद्ध लोग रह ही नहीं गये थे जो उनको मारा

जाता। परन्तु दो हत्याएँ थीं—एक श्रीशैल में और दूसरी कर्नाटक में। वे भी कापालिकों की, बौद्धों की नहीं। ये भी शंकराचार्य जी के शिष्यों द्वारा उनकी रक्षा के प्रसंग में की गयी।

आचार्य शंकर ने चमत्कार केवल दो ही दिखाए हैं—नर्मदा की बाढ़ को रोकना और परकायाप्रवेश। ये कल्पनाएँ नहीं हैं। ये दोनों ही कार्य उन्होंने योग-सिद्धियों से पूर्ण किये। परन्तु ये वह कारण नहीं है जिसकी वजह से शंकराचार्य जी का नाम इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गया है। उसका कारण है उनके व्यक्तित्व की गहराई और विस्तार, जिसका दर्शन हमें उनके द्वारा धर्म के पुनरुत्थान में निभाई गयी भूमिका के द्वारा होता है। शंकराचार्य के सभी जीवनीकार उनके जीवनवृत्त के विषय में ऐतिहासिक स्रोतों की कमी से अवगत हैं। उनके जन्मस्थान, आठ वर्ष की आयु में गृहत्याग, गोविन्द भगवत्पाद से संन्यासग्रहण, प्रस्थानत्रयी पर भाष्यलेखन, तीन बार समस्त भारत की पदयात्रा और उनकी दिव्य जीवन यात्रा का बत्तीस वर्ष की आयु में अन्त, ये तो सभी के द्वारा स्वीकृत हैं। परन्तु, विभिन्न शंकर विजयों में कथित कुछ प्रसंगों के इतिहाससम्मत न होने पर उन्हें निराशा होती है। इसका मुख्य कारण है इतिहास की आधुनिक पाश्चात्य धारणा। उनकी धारणानुसार लिखे गये इतिहास में घटनाओं का विस्तृत विवरण हो सकता है। शायद कई शताब्दियों का इतिहास इस प्रकार संकलित कर नापा जा सकता है। परन्तु ऐसे इतिहास के अध्ययन से लाभ बहुत अल्प ही है।

अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध कहावत है:- “इतिहास पढ़ने से मनुष्य को केवल एक ही लाभ मिलता है कि वह कुछ नहीं सीखता”। कौन भारत का इतिहास बता सकता है? ये वह कर्मभूमि है जिसने सदैव धर्म और अधर्म के संघर्ष को देखा है। समझने से लाभ भी क्या है? निश्चित तौर पर, सभी संघर्ष मनुष्यों के स्वाभाविक स्वार्थों के आपसी टकराव से उत्पन्न होते हैं, जिनका मूल कारण है मनुष्य के वे छह शत्रु—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर्य। वह इतिहास जो सदैव अपने को दुहराता रहता है उसमें किसी की क्या रुचि हो सकती है? इसलिए, हमारी परम्परा में इतिहास एक अन्य प्रकार से कहा जाता है। मुख्य घटनाओं पर आधारित और लेखक की कल्पना शक्ति द्वारा रूपान्तरित, नवरसों से सम्मिश्रित साहित्य इतिहास के

रूप में जन्म लेता है, जिसका उद्देश्य है लोगों को अलग शिक्षा देना। घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन वहाँ नहीं होना चाहिए और वहाँ होता भी नहीं। परन्तु जो धर्म हमें वहाँ से सीखना है उसकी विस्तारपूर्वक चर्चा होनी चाहिए। रामायण और महाभारत इसी दृष्टि से इतिहास ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य का जीवनवृत्त भी हमें इसी दृष्टि से देखना है।

सभी शंकरविजय ग्रन्थ पुराणों की शैली में रचे गये हैं और निःसन्देह अत्यन्त सुन्दर हैं। परन्तु जो आधुनिक परिवेश में पले-बढ़े हैं, उन्हें उपन्यास शैली अधिक रुचिकर लगती है। कुछ दशक पूर्व, महाब्रह्मानन्द और महाक्षत्रिय के लेखक श्री देवडू ने एक कृति 'महासंन्यासी' की रचना की थी, जो शंकराचार्य की जीवनगाथा पर आधारित थी, परन्तु यह प्रकाशित नहीं हुई। बाद में, मैसूर के श्री लक्ष्मी नरसिंह शास्त्री ने शंकर का इतिहास लिखा जो काफी प्रसिद्ध हुआ। आपके हाथ में जो यह महापरिव्राजक नामक ग्रन्थ है, वह भी इसी प्रकार एक रोचक उपन्यास की शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के माध्यम से शंकराचार्य के दर्शन को सरलता से समझाने का प्रयास किया गया है। जहाँ ऐसा नहीं हो सका है वहाँ कुछ जटिलता से भी समझाया गया है। माधवीय शंकर विजय का अनुसरण करते हुये श्री पद्मपादाचार्य से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया है। इनमें- गुरुजी के समक्ष व्यंग्योक्तियाँ करना, सहशिष्य गिरि की एक खंभे से तुलना करना, जब गुरुजी ने सुरेश्वराचार्य को उनके भाष्य पर टीका लिखने को कहा तो पद्मपादाचार्य का अन्य गुरुशिष्यों से मिलकर इसका विरोध करना और इससे गुरुजी का डर जाना और फिर उनका सुरेश्वर से कहा गया अपना वचन वापिस ले लेना या सुरेश्वर का पद्मपाद को श्राप देना, ये सब मनगढ़न्त कल्पनाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं:-

ऐतिह्यमाश्रित्य वदन्ति चैवं तदेव मूलं मम भाषणेऽपि।

यावत्कृतं तावदिहास्य कर्तुः पापं ततः स्याद्विगुणं प्रवक्तुः॥

'इस कथा को, जिसका आधार केवल अफवाहें हैं, कहने वाले को, पाप करने वाले से भी दुगुना पाप लगता है।' इस चेतावनी को गंभीरता से लेते हुये हमने इन घटनाओं का उल्लेख भी नहीं किया है।

एक नया पात्र, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता यहाँ प्रस्तुत किया गया है। ये है पृथ्वीधराचार्य। यह कोई काल्पनिक पात्र नहीं है। बेल्लालकुल उमामहेश्वर शास्त्री जी ने दृढ़ता से कहा है कि पृथ्वीधर ने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा था जिसका उन्होंने आचार्य शंकर से मिलने के बाद परित्याग कर दिया था। उनके विचार में पृथ्वीधर ने वरीयता प्राप्त की थी। आक्सफर्ड के बोडलेन पुस्तकालय में 'ऑफ्रेस्ट' नामक एक पुस्तक सूची है जिसमें वैकुण्ठपुरी जी विरचित 'द्वादश महावाक्य विवरण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख है। उसके अनुसार पृथ्वीधर शंकराचार्य के शिष्य थे। कहा जाता है कि दशनामी संन्यास सम्प्रदाय के सूत्रधार ये महापुरुष ही थे। पृथ्वीधराचार्य: तस्यापि शिष्याः दशतीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागराः सरस्वती, भारती च पुरी नामानि वै दशः। अगर शंकर सिद्धान्त के प्रचारक पद्मपादादि चार शिष्य थे, तो पृथ्वीधर, जिनमें सम्प्रदाय का अनुशासन बनाए रखने की क्षमता थी, ने संगठन और व्यवस्था का उत्तरदायित्व सम्भाला। उसी ऑफ्रेस्ट पुस्तक सूची में अन्य स्थान पर उन्हें 'शृंगेरी के पृथ्वीधराचार्य' कहा गया है। परन्तु शृंगेरी के पीठाधिपतियों में उनका नाम नहीं है। शायद वे अपनी वृद्धावस्था में आकर शृंगेरी में बस गए होंगे।

स्वामी परमानन्द भारती



## अध्याय एक कैलाश से कालड़ी तक

केरल राज्य का कोई एक ग्राम। चारों ओर हरियाली से पूर्ण नारियल के बगीचे, केलों के बाग और जल से परिपूर्ण नहरें। इन सबके बीच एक घर में कोई उत्सव मनाया जा रहा है। सम्बन्धी और मित्र दोपहर का भोजन करने के पश्चात् कोने में ऊंघ रहे हैं। एक और स्थान में चटई पर बैठी महिलाएँ आपस में गपशप कर रही हैं।

“अरे भगवती! बेचारी आर्याम्बा की कोई सन्तान नहीं है। वह बहुत दुःखी है।”

पास बैठी एक दूसरी महिला ने पूछा, “तुम किस आर्याम्बा की बात कर रही हो?”

“कालड़ी वाली आर्याम्बा जो शिवगुरु की पत्नी है।”

“अरे! क्या तुम्हें पता नहीं है कि विवाह के लगभग सत्ताईस वर्ष बाद आर्याम्बा ने एक पुत्र को जन्म दिया है?”

पहली महिला ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा “ऐसा है क्या? मुझे तो पता ही नहीं था।”

“जो भी उनके यहाँ जाता है, उनके पुत्र की बहुत प्रशंसा करते नहीं थकता। लगता है वह अत्यन्त मेधावी है और कहते हैं वह सुन्दर भी बहुत है।”

जनकाम्मा, जो पास बैठी सब सुन रही थी बोली, “लगता है वह बहुत प्रतिभाशाली है। सुना है दो वर्ष की आयु में ही वह ऐसे प्रश्न पूछने लगा था जिनका उत्तर उसके पिता के पास भी नहीं था।”

एक अन्य महिला कृष्णवेणी ने इस विलक्षण बालक के विषय में एक दिलचस्प बात बताई, “सुना है उसने छह वर्ष की आयु में ही चारों वेदों का अध्ययन कर लिया था। ऐसा लगता है कि वह एक बार सुनते ही चीजों को समझ लेता है।” इस प्रकार गपशप चल रही थी।

“तीन वर्ष की आयु में ही उसका उपनयन संस्कार करा दिया गया था। सुना है उसने गायत्री मन्त्र भी सिद्ध कर लिया है।”

“मैंने भी ऐसा ही सुना है। बेचारे शिवगुरु स्वर्ग सिधार गए। पता है, वही बालक अब उनका गुरुकुल चला रहा है।”

“विश्वास ही नहीं होता। मेरे पति उस तरफ पौरोहित्य कर्म के लिए जाते रहते हैं। इस बारी मैं भी उनके साथ जाऊँगी और इस अद्भुत बालक को स्वयं देख कर आऊँगी।” भगवती अम्मा ने कहा।

यह अद्भुत बालक कौन है?

केरल के कालड़ी ग्राम में एक अत्रि गोत्रीय ब्राह्मण रहते थे, जिनका नाम था विद्याधिराज। उनके पुत्र थे शिवगुरु। शिवगुरु को आठ वर्ष की आयु में अध्ययन के लिए गुरुकुल भेज दिया गया। जहाँ उन्होंने षडांगों सहित कृष्ण यजुर्वेद का अध्ययन किया। उसके बाद मीमांसाशास्त्र का अध्ययन कर वे बीस वर्ष की आयु में घर लौट आए।

कालड़ी गाँव से दस-बारह घण्टे पैदल रास्ते पर वेलियाड नाम का एक गाँव था जहाँ मघपण्डित नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। उनकी सती नामक एक पुत्री थी जिसका विवाह के पश्चात् नाम आर्याम्बा हुआ। कन्या के तेरह वर्ष की होने पर बहुत से विद्वान् ब्राह्मण अपने सुयोग्य पुत्रों के लिए उसका हाथ माँगने के लिए आगे आए। मघपण्डित ने उनमें से शिवगुरु का चयन किया। दोनों ही परिवार सम्पन्न थे और विवाह बड़ी धूम-धाम से किया गया।

शिवगुरु अपने घर में ही गुरुकुल चलाने लगे। लगभग दस छात्र उनके यहाँ अध्ययन करते थे और घर वैदिक मन्त्रों से गूँजता रहता था। दैनिक पाठ के बाद बालक आपस में खेलते-कूदते और शरारतें करते। उनकी भोली-भाली हरकतों को देखकर गुरुजी और उनकी पत्नी सदैव प्रसन्न ही होते थे कभी खीजते नहीं थे। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये।

विवाह के छब्बीस वर्ष बाद भी जब उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई तो दम्पति को बड़ी निराशा हुई। उन्होंने एक व्रत करने का निश्चय किया। वृषभाद्रि स्थित वृषभाचलेश्वर मन्दिर में दो महीने सेवा करने का उन्होंने

संकल्प लिया। व्रत उत्तरायण में पौष मास के शुक्ल पक्ष के प्रदोष से शुरू होकर फाल्गुन मास शुक्ल पक्ष के प्रदोष पर समाप्त होना था। जब तक वे वहाँ रहे वे पूजा और जप में संलग्न रहे और विविध व्यंजनों से अतिथियों का सत्कार करते रहे। बीच में माघ मास की शिवरात्रि को उन्होंने जागरण किया। अगले दिन पारण हुआ। उपवास समाप्त करके भोजन ग्रहण किया गया। उस रात गाढ़ निद्रा का आना स्वाभाविक था। मध्यरात्रि में एक वृद्ध सज्जन ने उनका द्वार खटखटया और शरण माँगी। उस देर समय में भी आर्याम्बा ने भोजन बनाकर अतिथि को तृप्त किया। अगले दिन उनकी सेवा से अत्यन्त सन्तुष्ट उस वृद्ध सज्जन ने विदा ली और उन्हें व्रत की सफलता का आशीर्वाद दिया। व्रत समाप्त होने पर दम्पति कालड़ी लौट आए।

वृषभाचलेश्वर की अर्चना का फल सुखदायक होना स्वाभाविक ही है। भगवान् की कृपा हुई और आर्याम्बा गर्भवती हुई। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार गर्भ की अनुभूति होते ही पुंसवन संस्कार करना चाहिए। यह संस्कार भ्रूण की रक्षा करता है और माता का मनोबल बढ़ाता है। स्वाधिष्ठान और आज्ञा चक्रों को दर्शाती रंगोलियों के ऊपर कलश स्थापित किया गया। दो छोटी कन्याओं ने बरगद के फल और धान को दूध में पीस कर एक मिश्रण तैयार किया। इसे माता के दायीं नासिका से साँस लेते समय उसमें डाला गया। इससे सुनिश्चित होता है कि होने वाला शिशु पुत्र ही होगा। आगे मार्गशीर्ष के महीने में सीमंतोन्नयन संस्कार सम्पन्न हुआ और एक हवन का भी आयोजन किया गया। धान के अंकुर, जंगली सुअर के काँटे और सुगन्धित जड़ी-बूटियों को मन्त्रों से विशुद्ध किया गया। पत्नी पूर्वाभिमुख होकर बैठी और पति ने मन्त्राभिषिक्त जंगली सूअर के काँटे को धीरे से पत्नी की मांग से पीछे जाते हुए गर्दन के नीचे ले जाकर पिछली तरफ डाल दिया। तत्पश्चात् श्रीराग में सोम मन्त्र गाया गया और एक सौभाग्यवती महिला ने उस पर वीणा वादन किया। अन्त में, ब्राह्मण-भोज के बाद, बन्धु-बान्धवों को भी स्वादिष्ट भोजन से तृप्त किया गया।

अब आर्याम्बा में दो हृदय थे। बढ़ते हुए बच्चे की कामना के अनुसार, माताओं को भी इस समय अत्यधिक लालसाओं की अनुभूति होती है। परन्तु आर्याम्बा में कोई इच्छाओं का उदय नहीं हुआ। गर्भस्थ शिशु की रक्षा के

लिए उसे अत्यन्त संयम से रहना पड़ता। नदी में नहाते हुए सिर की जल में डुबकी लगाना, तकिए के बिना सोना या किसी तरह का व्यायाम करना, ये सब उसके लिए निषिद्ध थे। इसके सिवा सीढ़ी चढ़ना और बाल खुले रखना भी प्रतिषिद्ध थे परन्तु स्नान के तुरन्त बाद सुखाने के लिए वह कुछ देर तक बालों को खुला रख सकती थी। एक दिन नदी में स्नान करके और मन्दिर में श्रीकृष्ण की पूजा करके आर्याम्बा माँगलिक द्रव्यों को लेकर जब घर लौटी तो ऊपर से नीचे तक उसकी कान्ति का अवलोकन कर शिवगुरु से रहा नहीं गया और वे बोले, “आर्या! तुम्हारे मुखमण्डल की कान्ति को देखकर ऐसा लगता है जैसे कोई अत्यन्त तेजस्वी बालक तुम्हारे गर्भ में बढ़ रहा है।” आर्याम्बा यह सुनकर शरमा गयी।

वैशाख मास के शुक्लपक्ष की पंचमी को आर्याम्बा को प्रसववेदना अनुभव हुई। शिवगुरु ने जातकर्म संस्कार का प्रबन्ध किया। यह संस्कार प्रसूतिगृह में ही सम्पन्न किया जाता है। आर्याम्बा की पीठ सहलाते हुये वे मधुर वाणी में बोले, “यह प्रसव सुखपूर्वक और सुगमता से सम्पन्न हो”, ऐसा कहते हुए उसे सूतिका गृह की ओर ले चले। उन्होंने ‘मा त्वं विकेशी उर आवधिष्ठा’ इस मन्त्र का उच्चारण किया। प्रसव के पश्चात् नालछेदन से पूर्व शिवगुरु ने ‘वात्सप्र’ मन्त्र का उच्चारण किया। गर्भ में अशुद्ध स्रावों को पीने से उत्पन्न दोषों के निवारण के लिये, और बौद्धिक विकास के लिए नवजात शिशु को थोड़ा-सा घृतमिश्रित-मधु चटवाया गया। उसके बाद माँ ने शिशु को अपने दाहिने स्तन से दुग्धपान कराया।

पुत्र के जन्म के तीन दिन बाद आर्याम्बा ने शिवगुरु से पूछा, “बच्चे की जन्मपत्री कैसी है?” शिवगुरु केवल “सब ठीक है” इतना कह कर मौन हो गये।

ग्यारहवें दिन पूर्णिमा थी। उस दिन नामकरण संस्कार होना था। माता-पिता और शिशु का विधिवत् स्नान हुआ। चर्चा बालक के नाम की तरफ मुड़ गयी। शिवगुरु ने आर्याम्बा से नाम रखने को कहा। आर्याम्बा ने इस कार्य का दायित्व वापिस अपने पति पर ही डाल दिया और अन्त में शिवगुरु ने ही निश्चय किया, “यह पुत्र हमें भगवान् शिव के कृपा प्रसाद से

मिला है। हम अत्यन्त धन्य हैं। 'शं करोति इति शंकरः' भगवान् शंकर ही मंगलकारी हैं। क्यों न हम इसका नाम शंकर ही रखें? आर्याम्बा ने सहर्ष उत्तर दिया, "आपने तो मेरे हृदय की बात कह दी।"

शिवगुरु ने इष्ट देवता की पूजा की और चाँदी की थाली में चावल फैलाकर उस पर हल्दी से 'शंकर शर्मा' नाम लिखकर उपस्थित ब्राह्मणों से उसका स्पर्श कराया। फिर ब्राह्मणों ने बालक को गोद में लेकर उसकी कमर में धागा बाँधा और उसके कान में तीन बार कहा "तुम्हारा नाम शंकर शर्मा है।" इसके बाद स्वस्तिवचन "स्वस्ति भवन्तो ब्रुवन्तु" कहा गया, जिसके उत्तर में ब्राह्मणों ने "स्वस्त्यस्तु" कहा। उसके पश्चात् ब्राह्मणों के लिए एक वैभवशाली भोज का आयोजन किया गया। भोज के बाद ब्राह्मणों को पर्याप्त दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया गया। शिशु को झूले में रखा गया और उसकी आयु और आरोग्य के लिए प्रार्थना की गयी।

इसके कुछ दिन बाद, विधिपूर्वक शिशु को अन्नाहार देना आरंभ करना था। इसके लिए अन्नप्राशन संस्कार सम्पन्न किया गया। सौभाग्यवती महिलाओं ने मणिपूर चक्र के समान रंगोली बनाई और उसके ऊपर कलश स्थापित किया। शिवगुरु पंचयज्ञों को समाप्त करके पत्नी और पुत्र सहित लकड़ी की चौकी पर बैठ गए। उन्होंने उपस्थित ब्राह्मणों को "नमस्सदसे। नमस्सदसस्पतये। नमस्सखीनां पुरोगाणां चक्षुषे....." इस मन्त्र से सम्बोधित किया और फिर दम्पति ने उठकर सभा को प्रणाम किया। गणपतिपूजा, पुण्याहवाचन, नान्दीमुख, अभ्युदयश्राद्ध आदि सभी कर्म विधि-पूर्वक सम्पन्न किए गये। शिवगुरु ने व्याहृतियों का पाठ किया और यज्ञशिष्ट खीर का प्रोक्षण करके शिशु को खिलाया। बाद में आर्याम्बा ने भी खीर का प्रसाद पाया।

अन्य शिशुओं की अपेक्षा शंकर एक महीने का होने से पहले ही घुटनों के बल चलने लगा। यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे उसको गोद में उठाकर दुलारने के लिए लालायित रहते थे। परन्तु कोई ऐसा न कर पाता, अपने बाल-सुलभ लचीलेपन से वह उनके हाथों से निकलकर तुरन्त पृथ्वी पर आ जाता। किशोरियां तो उसके इस व्यवहार से रुष्ट हो "तुम बहुत शैतान हो" कहकर हाथ मटकाती हुई वहाँ से चली जातीं।

एक वर्ष का होते-होते तो शंकर अपनी मातृभाषा में खूब बात करने लगा। एक दिन माता-पिता और बालक घर में अकेले थे। शिवगुरु ने प्रेम से पुत्र का आलिंगन किया और उसका सिर चूमते हुये पूछा, “बताओं मैं कौन हूँ?” बालक ने उत्तर दिया, “किसके?”। पिता ने वापिस पूछा, “इससे तुम्हारा क्या मतलब है?” पुत्र ने कहा, “ऐसा नहीं, माता के आप पति हैं और मेरे पिता हैं। इसलिए मैंने पूछा।” “देखो यह बदमाश कैसे बात करता है।” फिर माँ ने पूछा, “तुम मेरे क्या हो?” बिना आँख झपकाए शंकर ने उत्तर दिया, “बेटा”। आर्याम्बा ने शिशु को अंक में भरकर प्रेम से स्तनपान कराया।

एक दिन बालक शंकर क्रीडा करते हुए आँगन के दो दरवाजों में से बारी बारी से निकलकर कमरे में आ रहा था। यह देखकर पिता ने पूछा, “तुम क्या ढूँढ रहे हो?” पुत्र ने उत्तर दिया, “कुछ भी तो नहीं”। “तो फिर तुम एक-एक करके दोनों दरवाजों में से क्यों आ रहे हो?” “मैंने देखा कि कमरे में आने के दो द्वार हैं। मैं यह जानने का प्रयत्न कर रहा था कि इनमें से कौन सा रास्ता छोटा और सुगम है।” ज्योतिषशास्त्र को जानने वाले उसके पिता इस उत्तर से संतुष्ट होने की बजाए उदास ही हुये।

बच्चे को देखने के लिए आने वाले व्यक्ति साथ में गेंद या खिलौने के रूप में कोई न कोई उपहार लेकर आते। शंकर उसे हाथ में लेकर बहुत देर तक देखता रहता, फिर उसे सूँघता, चाटता और दबाता। अन्त में उसे बार-बार धरती पर पटककर फेंक देता। फिर दुबारा उसकी ओर देखता भी नहीं। एक दिन यह देखकर माँ ने पूछा, “बेटा, तुमने उसे फेंक क्यों दिया?” शंकर ने उत्तर दिया, “मैंने उसका रूप, रंग, स्वाद, और गन्ध देखी। फिर दबा कर देखा कि वह कठिन है या नर्म है। धरती पर मारकर उसका शब्द सुना। इसके पश्चात् उसमें जानने के लिए और कुछ नहीं रह गया था, इसलिए मैंने उसे फेंक दिया।”

इस उत्तर से माँ प्रसन्न नहीं अपितु उदास ही हुई।

× × ×

स्मृति के अनुसार ‘संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम्’ – एक

वर्ष की आयु में चूड़ाकर्म कराने पर पुत्र की आयु और ब्रह्मवर्चस बढ़ता है। इसलिए बालक के प्रथम वर्ष में प्रवेश करते-करते ही शिवगुरु ने उसका चूड़ाकर्म संस्कार कराने का निश्चय किया। एक शुभ दिन देखकर पहले पिता, माता और पुत्र ने तेल का अभ्यंग कर स्नान किया। नित्यकर्म से निवृत्त हो शिवगुरु पीठ पर आसीन हुए और पुण्याहवाचन, नान्दीमुख, अभ्युदयश्राद्ध सम्पन्न किए गये। माता और पुत्र पूर्वाभिमुख होकर बैठे। अग्नि स्थापित की गयी। एक कटोरे में गर्म और एक में ठण्डा जल भरकर रखा गया। इसके अतिरिक्त धान, बैल का गोबर, तलवार, चाकू, सूअर का कांटा, दूर्वा तथा नानाविध सुगन्धित द्रव्य रखे गये। माता के सामने पत्ते पर शक्कर, फल, दूध, घृत, पके चावल, आदि रखे गये। हवन के पश्चात् गर्म तथा ठण्डे जल को मिलाकर उससे बालक के बाल अच्छी तरह भिगोये गये। फिर शिखा छोड़कर उन्हें कटवा दिया गया। एक ब्रह्मचारी ने नीचे गिरे बाल उठाकर किसी वृक्ष की जड़ में डाल दिए। तत्पश्चात् बालक की आरती उतारी गयी। अंत में अक्षराभ्यास के लिए एक थाली में चावल रखकर गणेश, विष्णु और सरस्वती का आह्वान एवं पूजन किया गया। फिर हल्दी की एक गांठ से 'ॐ नमो नारायणाय', 'ॐ नमः शिवाय' इन मन्त्रों को बालक के हाथ से तीन-तीन बार लिखवाया गया, साथ-साथ उससे इनका उच्चारण भी कराया गया। फिर ब्राह्मणों और सुहागिनों को भोजन कराया गया।

× × ×

गाँव के बाहर एक विशाल वट वृक्ष था। एक दिन दूर्वा संग्रह करने आए पिता-पुत्र उसके नीचे बैठे थे। शंकर ने प्रश्न पूछा, "पिताजी! यह पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र कब से हैं?"

"करोड़ों वर्षों से" पिता ने उत्तर दिया।

"ये अस्तित्व में कैसे आए?"

"देखो बेटा! हम अन्न से पैदा हुए, अन्न पौधों से आता है, पौधे पृथ्वी से, पृथ्वी जल से, जल अग्नि से, अग्नि वायु से और वायु आकाश से उत्पन्न हुई है।"

"और आकाश किससे उत्पन्न हुआ है?" पुत्र ने पूछा,

“भगवान् से”

“भगवान् ने किससे जन्म लिया?”

“भगवान् न जन्म लेते हैं, न मरते हैं; वह सदैव रहते हैं।”

“वह कहाँ रहते हैं?”

“सर्वत्र रहते हैं।”

“फिर दिखायी क्यों नहीं देते?”

“देखो बेटा! आकाश वायु से सूक्ष्म है। जब आकाश ही नहीं दिखाई देता तो भगवान् कैसे दिखाई दे सकते हैं?”

“अगर ऐसा है तो हम कैसे कह सकते हैं कि उनका अस्तित्व है?”

“यह सब कुछ उन्हीं से आया है, इसलिए, उन्हें होना ही है। कैसे, यह मैं तुम्हें समझाता हूँ। जाओ और इस बरगद का एक फल उठा लाओ।”

शंकर फल उठाकर अपने पिता के पास ले आए।

“इसको तोड़ दो” पिता ने कहा।

शंकर ने उसके दो टुकड़े कर दिए।

“बेटा! इसके अन्दर क्या है।”

“बीज”

“एक बीज तोड़कर देखो उसमें क्या है।”

“कुछ नहीं”

“अगर उसके भीतर कुछ नहीं है तो उसमें से बरगद का पेड़ कैसे आ सकता है? बीज में कोई न कोई शक्ति अवश्य होनी चाहिए जिससे वृक्ष उत्पन्न हो पाए। परन्तु वह दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार, भगवान् में यह सब कुछ सृष्टि करने की शक्ति है परन्तु वह दिखाई नहीं देता।”

“अगर वह दिखाई नहीं देता तो उससे हमें क्या लाभ है?”

“भगवान् को देख सकते हैं, परन्तु देखना अत्यन्त कठिन है, ऐसा विद्वान् कहते हैं,” पिता ने उत्तर दिया।

× × ×



एक और दिन माली कुछ कटहल एक टोकरी में देकर गया। शंकर को एक कोने में खाली बैठे देख माँ ने उससे कहा, “बेटा जरा यह कटहल गिनना कितनी हैं, मैं इतने नदी तक होकर आती हूँ।” लौटने पर माँ ने पूछा, “शंकर कितनी हैं?”

शंकर ने उत्तर दिया, “एक”।

“बेटा! मैंने तुम्हें टोकरी गिनने के लिए नहीं बल्कि उसमें कितने फल हैं यह गिनने के लिए कहा था।”

“माँ! मैं फल की ही बात कर रहा हूँ।”

“टोकरी पूरी भरी हुई। फिर यह कहने का क्या मतलब कि एक ही है?”

“माँ मैं निकालता हूँ और आप गिनो, या आप निकालो और मैं गिनता हूँ।”

“शंकर, तुम ही निकालो, मैं गिनींगी। शंकर ने अपने नन्हें नन्हें हाथों से एक फल निकाला। माता ने कहा ‘एक’ और उसे अलग रख दिया। फिर शंकर ने एक और फल निकाला, माँ ने कहा। ‘दो’। ‘नहीं, माँ, यह दो नहीं है। अभी तो आपने कहा कि ‘एक’ है।”

“जो मैंने ‘एक’ कहा था वह उस फल के लिए कहा था। यह दूसरा है।”

“माँ! दोनों में क्या अन्तर है?”

माँ असमंजस में पड़ गयी और विचारने लगी कि अब क्या किया जाए। उन्होंने एक साथ दो फल उठाए और शंकर के हाथ में रखकर बोली “दो”। शंकर की आँखे प्रसन्नता से खिल उठीं। उसने उन फलों को एक ओर रख दिया और स्वयं दो और फल उठाकर माँ की ओर उत्सुकतापूर्वक देखा। माता ने कहा “चार”। “नहीं माँ चार नहीं, अभी तो आपने बताया था ‘दो’।” शंकर बोला।

माता हतप्रभ रह गयी। उन्हें समझ नहीं आया कि वह उससे क्या कहें। वे केवल उसके कोमल गालों को खींच कर और प्यार से यह झिड़की देकर कि “कि तू बहुत नटखट है”, वहाँ से चली गई। रात्रि में शंकर के सोने के

बाद आर्याम्बा ने अपने पति से पूछा, “दोपहर को जो हुआ आपने भी देखा। क्या आप बता सकते हैं कि मुझे शंकर को क्या उत्तर देना चाहिए था?”

“मैं भी नहीं जानता। वह जब बड़ा हो जाएगा तब उसी से पूछेंगे।”

× × ×

गुरुकुल में विद्यार्थियों के साथ रहते हुए शंकर ने तीन वर्ष की आयु में ही संस्कृत में भली-भांति बोलना शुरू कर दिया। दुर्भाग्य से शिवगुरु ने पचासवें वर्ष में ही अस्वस्थता के कारण खाट पकड़ ली थी। पत्नी तथा शिष्यों ने उनकी बहुत सेवा की परन्तु वे बचे नहीं।

दक्षिणाग्र पर फैलायी गयी लम्बी दूर्वा पर शव को दक्षिणमुख करके रखा गया। देहान्त से एक वर्ष पूर्व ही शिवगुरु ने श्रौताग्नि को आत्मसात करके केवल औपासनाग्नि बचा रखी थी। सगोत्रीय बन्धु अन्तिम संस्कार के लिए आगे आए। उन्होंने “आयुषः प्राणग्न सन्तनु। प्राणादपानग्न सन्तनु।... ..” इन मन्त्रों का मृतक के कान में उच्चारण किया। औपासनाग्नि को एक घट में स्थापित किया गया। दो बैलों से जुती गाड़ी में शिवगुरु के शव को श्मशान भूमि ले जाया गया। शंकर विद्यार्थियों के साथ घर पर ही रहा। संस्कार के बाद सभी नदी में स्नान करके घर लौट गये।

शंकर ने अपने नाना मघपण्डित से पूछा, “मेरे सोते हुये पिता को कहाँ ले गये?”

“शंकर! वह ऊँचे लोकों में चले गये हैं।”

“वे कब लौटेंगे?”

“वे वापिस नहीं आ सकते बेटा।”

यह सुनकर शंकर गहरी सोच में पड़ गया।

× × ×

अपने दामाद की मृत्यु का समाचार सुनकर आये मघपण्डित बेटी को सान्त्वना देने के लिये रुके रहे। शोकग्रस्त आर्याम्बा कई दिन तक मूक रही। एक दिन मघपण्डित ने उसे शोक से उबारने के लिये शंकर का उपनयन कराने का प्रस्ताव रखा, “बेटी! घर में जो गुरुकुल चल रहा था वह बन्द हो

गया है। वेदपाठ भी नहीं हो रहा है। मन एकदम निरुत्साहित है। क्या मैं एक बात कह सकता हूँ?”

“हाँ पिताजी कहिये।”

“पुत्र का उपनयन कराने से तुम्हें सन्तुष्टि मिलेगी। संस्कृत तो वह धारा-प्रवाह बोलता ही है और उच्चारण भी बिल्कुल स्पष्ट है। मेधावी बालक का तृतीय वर्ष में भी उपनयन किया जा सकता है। आपस्तम्ब के अनुसार, ‘गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत् गर्भैकादशेषु राजन्यः गर्भद्वादशेषु वैश्यः’। शंकर को सन्ध्यावन्दन तथा अग्निकार्य करते देख मन को बड़ा सन्तोष होगा। अतः उसका उपनयन करा लेना चाहिये।”

आर्याम्बा की एक समस्या थी, “उपनयन के बाद आप तो यहाँ से चले जायेंगे। बाद में शंकर मुझसे सौ तरह के प्रश्न पूछेगा— उपनयन संस्कार क्यों करना चाहिये?”

उपनयन के बाद क्या करना होता है?

किसलिये करना होता है? इन सब का उत्तर मुझे बताइये जिससे मैं उसकी जिज्ञासा शान्त कर सकूँ”।

मघपण्डित ने कहा बताता हूँ सुनो, “गर्भस्थ शिशु में दूसरे महीने में प्राणसंचार आरंभ हो जाता है। लगभग पांचवें महीने में ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होने लगती हैं और मन और बुद्धि भी कार्य करने लगते हैं। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मों की स्मृति रहती है। जन्म होने पर वह स्मृति नष्ट हो जाती है। जन्म के समय मन और बुद्धि सुषुप्त अवस्था में होते हैं और धीरे-धीरे कार्यशील होते हैं। मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है। जन्म के पश्चात् ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है शिशु ज्ञानेन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध द्वारा वस्तुओं का परीक्षण करके उन्हें पहचानने लगता है। इसके साथ उसके मन का भी विकास होता रहता है। साधारणतया यह विकास छह वर्ष की आयु तक होता है और उसके बाद रुक जाता है। अब तक बुद्धि विकसित होनी शुरू नहीं हुयी होती है।”

“यह हम कैसे कह सकते हैं?”

“बुद्धि अच्छे-बुरे का निर्णय करने वाली होती है। उसकी अनुपस्थिति

में एक बालक नंगा होने पर भी लज्जा का अनुभव नहीं करता है। वह बिना कारण ही रोता-हँसता है। जब बुद्धि विकसित होनी प्रारंभ होती है तो धीर-धीरे उसके व्यवहार में भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। उसे लज्जा आने लगती है, बिना कारण रोना-हंसना बन्द हो जाता है। शंकर को देखो। केवल तीन वर्ष का होने पर भी वह कौपीन के बिना नहीं घूमता है। कभी भी अकारण हँसता या रोता नहीं है। तुम्हारा पुत्र अत्यन्त विलक्षण है। उसका उपनयन अभी कराना उपयुक्त है। यह शास्त्रसम्मत भी है। बेटी! जो चित्त है वह स्मरणशक्ति का केन्द्र होता है। उसका विकास छह-आठ साल की आयु के बाद प्रारंभ होता है। बालक को गुरुकुल भेजने का यही समय होता है।”

“उपनयन के बाद सूर्योपासना क्यों की जाती है?” आर्याम्बा ने पूछा।

“बुद्धि का प्रचोदन करने वाला सूर्य ही होता है। उदाहरण के तौर पर मन्दबुद्धि लोग ग्रहणकाल में अधिक उन्मत्त हो जाते हैं क्योंकि उस समय सूर्य की शक्ति न्यून होती है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि का प्रचोदनकर्ता सूर्य ही है। इसलिये, जब बुद्धि का विकास आरम्भ होता है तभी सूर्य की भी उपासना प्रारंभ करनी चाहिये।”

उपनयन के लिये पुत्री की स्वीकृति प्राप्त होने पर मघपण्डित ने संस्कार के लिये एक शुभ दिन सुनिश्चित कर दिया।

उससे एक दिन पूर्व अभ्यंजन स्नान कराया गया। अभ्यंजन स्नान का अर्थ है सिर में तेल लगाकर स्नान करना। उसी दिन उदक शान्ति, गणपति पूजा, कुम्भ तीर्थ का सम्प्रेक्षण, प्राशन, नान्दी श्राद्ध तथा भोजन, ये सब कार्य भी सम्पन्न किये गये।

सपत्नीक मघपण्डित ने ही दौहित्र के उपनयन का संकल्प किया। अगले दिन फिर अभ्यंजन स्नान हुआ। ब्रह्मचारी की वाक्शक्ति एवं बुद्धिबल के अनुग्राहक विशुद्ध और आज्ञा चक्र के देवता हैं। सुमंगलियों ने रंगोलियों में विशुद्ध और आज्ञा चक्र बनाये और उनके ऊपर कलश स्थापना की गयी। तदनन्तर वटुक का मुण्डन और स्नान हुआ और उसे कषाय धोती पहनायी गयी। उसके बाद मौँजी बन्धन और कृष्णाजिनधारण हुआ। तत्पश्चात् देवताओं को हवि अर्पण करके वटु को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया गया। फिर

समिधाधान करके 'रक्षा' धारण कराके 'आत्रेयार्चनानसश्यावाश्वेत्यार्षेय-प्रवरन्वितात्रेयसगोत्रः आपस्तम्बसूत्रः यजुश्शाखाध्यायी शङ्करशर्माहं भोः अभिवादये' ऐसा कहकर बटुक ने यज्ञेश्वर को नमस्कार किया। ब्रह्मतेज से प्रदीप्त शंकर को वहाँ उपस्थित जनसमूह एकटक देखता रह गया। नेत्र खुले होने पर भी शंकर की दृष्टि अन्तर्मुखी थी। भिक्षादान के लिये खड़ी स्त्रियों को शंकर उस समय साक्षात् वामन की याद दिला रहे थे। उनमें से कुछ के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक आए और कुछ तो भिक्षा को भूलकर वटु को नमस्कार करने लगीं। रात्रि में आर्याम्बा ने इतनी दृष्टियाँ पड़ने के कारण शंकर की नजर उतारी।

अगले दिन मघपण्डित ने शंकर को सन्ध्यावन्दन की प्रक्रिया और गायत्रीजप का महत्व समझाया "किसी भी मन्त्र के जप से पहले उस मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का स्मरण आवश्यक है। गायत्रीमन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता सूर्य है और छन्द निचृद्गायत्री है। विश्वामित्र उन सप्तर्षियों में एक हैं जिन्होंने इस वैवस्वत मन्वन्तर के आदि में जन्म लिया था। वे ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे। पिछले जन्म में ये कौशिक थे जहाँ उन्होंने कठिन तपस्या से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त किया जिसके कारण उन्हें इस जन्म में गायत्रीमन्त्र की स्मृति प्राप्त हुयी। सूर्य देवता हमारी बुद्धि के प्रेरक हैं। नः धियः यः प्रचोदयात् तद्वरेण्यं सवितुः तद्देवस्य भर्गः धीमहि- उस देव के तेज का हम ध्यान करते हैं- यह इस मन्त्र का अर्थ है। इस मन्त्र का छन्द गायत्री है और यह अपने छन्द के नाम से ही विख्यात है। इस मन्त्र के तीन पाद, अर्थात् पंक्ति हैं। एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। किन्तु प्रथम पंक्ति के 'तत्सवितुर्वरेण्यं' में केवल सात अक्षर हैं, इसलिये इसे 'निश्चद्गायत्री' छन्द कहते हैं। इस मन्त्र की उपासना का अर्थ है मन को तैलाधारावत् सूर्य की ओर प्रवाहित करना और अपने चंचल मन को अन्यत्र कहीं और जाने से रोककर सूर्यदेव में प्रतिष्ठित करना। तुम समझ गये न शंकर!

"हाँ मैं समझ गया। परन्तु सूर्य की बुद्धि को प्रेरणा देने वाला कौन है?"

“वह परमात्मा ही हैं परन्तु वे सूर्य के समान प्रत्यक्ष नहीं होते। इसलिये प्रत्यक्ष सूर्य के ध्यान से आरंभ करके उस परमात्मा में ही मन लगाना है।”

“उस परमात्मा का स्थान क्या है?”

“हृदय ही उसका स्थान है।”

“मन्त्र में ‘नः धियः और ‘धीमहि’ बहुवचन में हैं।’ इसका क्या अर्थ है?”

“ये शब्द ब्राह्मणों के सामूहिक दायित्व को दर्शाते हैं। ब्राह्मणों का जीवन दूसरों के धन से चलता है। यह वह धन है जो अध्यापन और याजन के लिये दक्षिणा रूप में उन्हें दिया जाता है। परन्तु ब्राह्मण का ऋण केवल अध्यापन और याजन से ही नहीं उतर जाता। उसे समाज को और भी बहुत कुछ देना होता है। शास्त्र के अनुसार ब्राह्मण के तप का छठा भाग प्रजा को प्राप्त होता है। प्रजा का योगक्षेम इसी पर निर्भर करता है। इसलिये, गायत्रीजप हर ब्राह्मण का कर्तव्य है।”

“कल उपनयन संस्कार के पश्चात् जो मेरे द्वारा भिक्षा प्राप्त की गयी उसका क्या महत्व है?”

“तुम आगे जब विद्याग्रहण के लिये गुरुकुल जाओगे तब तुम्हें भिक्षा द्वारा ही जीवनयापन करना होगा।”

“ऐसा क्यों?”

“यदि सभी विद्यार्थी गुरुकुल में ही भोजन करें तो गुरु और उनकी पत्नी पर अत्यधिक बोझ पड़ जायेगा। यह सही नहीं है। अतः ब्रह्मचारी को भिक्षा के द्वारा ही अपना भोजन प्राप्त करना होता है। मधुमक्खी जिस प्रकार एक फूल से दूसरे फूल पर मधु इकट्ठी करती है उसी प्रकार घर-घर जाकर थोड़ा-थोड़ा आहार एकत्रित करना होता है। अतः इसे मधुकरी कहा जाता है। इससे ब्रह्मचारी में सब गृहणियों के प्रति मातृत्व की भावना जागृत होती है। केवल स्वाद के लिये भोजन करने की इच्छा का भी दमन होता है। समाज के प्रति कृतज्ञता का भाव उत्पन्न होता है और समाज को शिक्षा देकर इस ऋण से मुक्त होने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने की परम्परा अविच्छिन्न चलती रहती है।”

अपने गाँव वेलियनाड लौटने पर भी मघपण्डित का अपनी पुत्री के यहाँ आना-जाना लगा रहता था। उनकी इच्छा थी कि अधिक से अधिक समय अपनी पुत्री और दौहित्र के साथ बितायें। एक दिन उन्होंने अपनी पुत्री से कहा: “शंकर अब पाँच वर्ष का हो गया है। उसको गुरुकुल भेजने का समय आ गया है। परन्तु वेलियनाड यहाँ से बहुत दूर है। तुम वहाँ उससे ज्यादा मिलने नहीं जा पाओगी। वह भी एक छोटा बालक ही है। अतः, पास के गाँव में नारायण दीक्षित के गुरुकुल में उसे भेजना अच्छा रहेगा। वहाँ तुम उसे अपनी इच्छानुसार मिलने जा सकोगी।”

आर्याम्बा सहर्ष अपने पिता की बात स्वीकार करते हुये शंकर को नारायण दीक्षित के गुरुकुल छोड़ आयी। यद्यपि सगे-सम्बन्धी आर्याम्बा के घर आते रहते थे, तो भी पुत्र की अनुपस्थिति में उसे घर खाली-खाली सा दिखता था। उधर गुरुकुल में शंकर अपने नाना की शिक्षानुसार जो जो सेवा बन पड़े करता था। वह ज्येष्ठ शिष्यों के साथ समिधा और दर्भ एकत्रित करने के लिये जाता था। जब वह भिक्षा के लिये जाता तो स्त्रियाँ उसे अत्यन्त स्नेह से भिक्षा देती थीं। शंकर अपनी लायी भिक्षा गुरुजी को समर्पित करता और उनकी आज्ञा होने पर ही भोजन करता। यदि कभी कोई विशेष भोजन मिलता तो उसे वह अपने सहपाठियों से मिलकर ही खाता। धीरे-धीरे उसे अपने नाना की बातों की सत्यता का अनुभव होने लगा; स्वादिष्ट भोजन की इच्छा कम होती गयी और समाज के प्रति कृतज्ञता उत्पन्न होती गयी। उसने दृढ़ निश्चय किया कि वह शास्त्र का अध्ययन करेगा और फिर उस अर्जित ज्ञान का समाज में वितरण कर अपना ऋण उतारेगा।

× × ×

एक दिन नारायण दीक्षित ने आर्याम्बा को गुरुकुल की ओर आते देखा। वह अपनी पत्नी से बोले “जरा माँ की ममता तो देखो। अभी शंकर को गुरुकुल में आये एक सप्ताह भी नहीं हुआ है और वह पुत्र की कमी इतना महसूस करने लगी है कि उससे मिलने गुरुकुल आ गई है।” गुरुकुल पहुँचकर आर्याम्बा ने गुरुपत्नी से पुत्र की कुशलता पूछी। उन्होंने बताया कि

अन्य सब बालकों के साथ शंकर समिधा लाने गया है और शीघ्र ही लौट आयेगा।

“तुम्हारा पुत्र अत्यन्त विलक्षण है। सब उससे अत्यधिक प्रेम करते हैं। वह बुद्धिमान्, विनयशील और आज्ञाकारी है। यद्यपि आपको बहुत समय तक सन्तान प्राप्ति नहीं हुयीं, आखिरकार आपको एक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हुआ।”

यह सुनकर आर्याम्बा की आँखों में आंसू भर आये।

“अरे! तुम रोती क्यों हो?”

“लगता है वह संन्यासी बनना चाहता है। कल रात सपने में मैंने उसे एक संन्यासी के रूप में देखा। इस स्वप्न से मुझे अत्यन्त दुःख पहुँचा, इसलिये मैं शंकर को देखने आ गयी।”

“अरे! ऐसा है क्या?”

“भगवान् के लिये शंकर को यह सब न बताना।”

“चिन्ता मत करो। मैं नहीं बताऊँगी।” इतने में शंकर लौट आया और माँ को देखकर प्रणाम किया। माता ने उसका मस्तक सूँघा और पूछा, “बेटा तुम कुशल हो न?”

“हाँ माँ मैं अच्छा हूँ।”

फिर माँ ने शंकर को खासतौर पर उसके लिये बनायी गयी कुछ खाद्य सामग्री दी। शंकर ने सबको बाँटकर फिर खुद खाया।

शंकर कुशाग्र बुद्धि था। अपना पाठ करते समय ही दूसरों का भी पाठ सुनते हुये उसने शीघ्र ही अपनी वेद-शाखा का अध्ययन पूरा कर लिया। इसी प्रकार उसने एक ही वर्ष में षड् अंगों सहित चारों वेदों का पूर्णतया अध्ययन कर लिया। गुरुपत्नी ने एक दिन अपने पति से कहा, “आर्य! शंकर को और पढ़ाने की क्या आवश्यकता है? उसने सब कुछ तो सीख लिया है।”

“मैं उसको पढ़ाता हूँ अपने उद्धार के लिये, न कि उसको सिखाने के लिये”, नारायणदीक्षित ने उत्तर दिया। सब विद्यार्थियों की भी शंकर के प्रति महान् प्रीति और गौरव का भाव था।



एक दिन दोपहर को सब विद्यार्थी नदी में स्नान करके लौट रहे थे। एक बोला, “आज प्रातः लकड़ी काटने से शरीर पसीने के कारण असह्य हो रहा था। मिट्टी रगड़कर स्नान करने से शुद्ध हो गया। आनन्द आ गया।”

दूसरे ने इस पर प्रश्न किया, “मिट्टी रगड़कर नहाने से शरीर क्यों शुद्ध होता है?”

“मैं नहीं जानता।”

“शंकर क्या तुम बता सकते हो?”

“ऐसा इसलिये होता है क्योंकि मिट्टी कारण है और स्वेद कार्य है,” शंकर ने उत्तर दिया।

“ऐसे समझाओ कि हम लोग सरलता से समझ सकें।”

“पिछले सप्ताह जो मन्त्र हमें सिखाया गया था वह याद है न—‘पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः’ इसके बाद क्या आता है, यह जानना चाहते हो, क्या?” शंकर ने हँसते हुये कहा।

“बताओ”।

“पुरुषात् पुरीषम्।”

सब इस पर खूब जोर से हंसे। शंकर ने अपनी बात जारी रखी; “भगवान् और हमारा भेद देखो। वह मल को फल बनाता है और हम फल को मल बनाते हैं। मल, मूत्र, स्वेद—ये सब पुरुष से उत्पन्न होते हैं। पुरुष पृथ्वी से आया है। क्या इससे स्पष्ट नहीं हो जाता कि सब मलिनता का मूल कारण मिट्टी ही है? उसमें न दुर्गन्ध होती है न सुगन्ध। इसलिये, विविध प्राणियों से जो दुर्गन्ध उत्पन्न होती है और फल-फूल आदि से जो सुगन्ध उत्पन्न होती है, भूमि पर गिरने के बाद दोनों ही नष्ट हो जाती हैं, केवल एक गन्धरहित मिट्टी रह जाती है। इसलिये ही मिट्टी रगड़कर स्नान करने से शुद्ध हो जाती है।”

एक ने पूछा “अगर मिट्टी में ये नहीं हैं तो मिट्टी में से दुर्गन्ध और सुगन्ध क्यों आती हैं?”

शंकर ने उत्तर दिया “मिट्टी में अपने आप में कोई गन्ध नहीं होती।

परन्तु जब जल और ऊष्णता का उसमें मिश्रण होता है तब गन्ध उत्पन्न होती है। ये संगति का दोष है। अकेले में हम शान्त और गम्भीर होते हैं, परन्तु जब आपस में मिलते हैं तो उपद्रव रचते हैं। मिट्टी के विषय में भी ऐसा ही है।

× × ×

एक दिन शंकर ने एक छोटे घर जाकर “भवति भिक्षां देहि” इस प्रकार भिक्षा के लिए आवाज लगायी। परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। दुबारा आवाज देने पर भी कोई नहीं आया। तीसरी बार में भीतर से एक स्त्री की आवाज आयी “ब्रह्मचारी! हमारे घर में कुछ नहीं है। हम बहुत निर्धन हैं।”

“आप जो भी देंगी मैं स्वीकार करूँगा” शंकर ने उत्तर दिया। भीतर से कुछ बातचीत की आवाज आयी। अन्त में एक स्त्री बाहर निकली। उसने एक सूखा आँवला शंकर के कटोरे में डालकर कहा, “लोग तुम्हें अच्छी-अच्छी वस्तुएँ देते होंगे। मेरे पास तो केवल इतना ही है। इसको स्वीकार करो।” ऐसा कहकर वह फूट-फूट कर रोने लगी। शंकर की आँख भर आयी। रात को सपने में उसे माँ लक्ष्मी के दर्शन हुये। उसने देवी से प्रार्थना की “माँ! उस स्त्री को समृद्धि दो।”

“यह कैसे हो सकता है शंकर! अपने पूर्व जन्मों में वह अत्यधिक धनवान थी परन्तु कभी कुछ भी दान नहीं दिया। उसको समृद्धि कैसे मिल सकती है? क्या तुम नहीं जानते कि मैं केवल पूर्व कर्मों के अनुसार ही फल देती हूँ?”

“माँ! इतने कष्ट में भी उसने मुझे आँवले का दान दिया ही है। कृपया उसे इसका फल दे दें।”

देवी “तथास्तु” कहकर अन्तर्ध्यान हो गयी। दान का फल दान किसको दिया गया है इस पर भी निर्भर करता है। जागने पर शंकर ने कनकधारा स्तोत्र की रचना की। शीघ्र ही उस स्त्री के सब कष्ट दूर हो गये। उस कुल के वंशज अब तक यह कथा सुनाते हैं। उस घर का नाम है:- ‘स्वर्णतिल्लं’-स्वर्ण का घर।

× × ×

एक दिन गुरु ने कहा- “शंकर! अब तुम पुराण, रामायण तथा महाभारत

का स्वयं ही अध्ययन कर सकते हो। जहाँ सन्देह हो वहाँ मुझसे पूछ लेना।” उन्होंने शंकर को ग्रन्थों की एक पोटली सौंप दी। शंकर ने सबका गहन अध्ययन किया। उसे सन्देह की स्थिति कही भी नहीं आयी। शंकर को गुरुकुल में आये अभी डेढ़ साल भी नहीं हुआ था कि गुरु ने कहा,—“शंकर! यहाँ जितनी पढ़ाई हो सकती थी तुमने कर ली। अब तुम्हें मीमांसाशास्त्र का अध्ययन करना है, परन्तु उसे पढ़ाने वाला कोई गुरुकुल निकट नहीं है। उसके लिये तुम्हें दूर जाना पड़ेगा। तुम अभी छोटे हो, इतनी दूर जाना तुम्हारे लिये सम्भव नहीं होगा। तुम्हारी माँ भी तुम्हारी कमी बहुत महसूस करती हैं। अतः, अभी के लिये यही उचित है कि तुम घर चले जाओ और वहीं रहते हुये शिष्यों को पढ़ाओ।

उस दिन गुरुपत्नी ने किसी बालक को भिक्षा के लिये नहीं जाने दिया। घर में ही सबके लिये स्वादिष्ट भोजन एवं मिष्ठान्न बनाये गये। सात वर्षीय वह बालक जब जाने के लिये तैयार हुआ तो गुरु, गुरुपत्नी, उनके बच्चे और विद्यार्थी, सभी रोने लगे। गुरु और गुरुपत्नी को साष्टांग प्रणाम करके शंकर कालड़ी की ओर चल पड़ा।

× × ×

शंकर के लौटने पर आर्याम्बा को उतनी ही प्रसन्नता हुयी जितनी उसके पैदा होने पर हुयी थी। घर में ही गुरुकुल प्रारंभ किया गया। ये गुरुदक्षिणारहित गुरुकुल था। दिन पर दिन शंकर की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। जिज्ञासु उसको ढूँढते हुये दूर-दूर से आने लगे, घर में हमेशा लोगों का तांता लगा रहता। आर्याम्बा को कष्ट न हो इसलिये आगन्तुकजन स्वयं ही खान-पान आदि बनाते और रहने की व्यवस्था भी स्वयं कर लेते। केरल के राजा कुलशेखर वर्मा ने जब इस विलक्षण बालक के विषय में सुना तो उनके मन में उससे मिलने की तीव्र इच्छा जागृत हुयी। उन्होंने अपने मन्त्री को अनेक उपहारों के साथ भेजा और शंकर से अपनी राजसभा में आने के लिये कहा। मन्त्री ने शंकर को दक्षिणा, रेशमी धोती और फल समर्पित करके राजा की इच्छा जाहिर की। शंकर ने केवल फल ही रखे और बाकी उपहार वापिस करते हुये राजा की इच्छा पूरी करने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

जब मन्त्री अकेले ही वापिस लौटा तो राजा को अपनी भूल का अहसास हुआ। अपनी भूल सुधारने के लिये उसने स्वयं शंकर के पास जाने का निश्चय किया। उसने अपना रथ कुछ दूर खड़ा किया और फिर घर तक पैदल ही गया। आर्याम्बा ने उनका उचित स्वागत किया। राजा शंकर को साष्टांग प्रणाम करके विनम्रता से बैठ गया और पूछा, “आपने मेरे द्वारा भेजी सामग्री स्वीकार नहीं की?”

शंकर ने स्पष्ट किया, “मैं एक ब्रह्मचारी हूँ। मेरे लिये कोई भी उपहार स्वीकार करना निषिद्ध है। आप वर्णाश्रम धर्म के रक्षक हैं। मैं आपसे ही उसका उल्लंघन कैसे करा सकता हूँ?”

राजा ने आदरपूर्वक उत्तर दिया, “भगवन्! आपके पिता नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति में और इतने अतिथियों के आने-जाने से कठिनाई होती होगी।”

“भगवान् की कृपा से और आपके सुशासन के कारण कोई कमी नहीं है।” शंकर ने कहा।

राजा ने अपने द्वारा रचित कुछ नाटक शंकर को दिखाये और उनकी समीक्षा करने के लिये कहा। तभी की तभी शंकर ने उनका अवलोकन किया और छोटे-छोटे व्याकरण के दोषों को ठीक करके कहा कि वे अच्छे लिखे गये हैं। राजा ने आगे कहा, “मेरी कोई सन्तान नहीं है, मुझ पर कृपा करें।”

शंकर ने उनको सन्तान के लिये करणीय कर्म का निर्देश दिया और फल देकर आशीर्वाद दिया। आर्याम्बा को अपने पुत्र पर अत्यन्त गर्व का अनुभव हुआ।

× × ×

एक दिन श्रीकृष्ण मन्दिर में पूजा के बाद आर्याम्बा कपड़े धोने नदी पर गयी। दोपहर का समय था, सूर्य अत्यन्त प्रखर था जिससे रेत भी तप गयी थी। लौटते समय उनका पैर फिसला और वह गिर पड़ी। देखने वाले दूर से ही जोर से चिल्लाये, “शंकर! तुम्हारी माता गिर गयी हैं।” शंकर उस ओर भागा। उसके साथ और विद्यार्थी बालक भी दौड़े। परन्तु माता को उठाना

उनमें से किसी के भी बसका नहीं था। शंकर ने रेत पर गीली साड़ियाँ बिछायीं और माँ को धीरे-धीरे उस पर चला कर घर ले आया। वह चिन्तित हो उठा “माँ को रोज कपड़े धोने के लिये नदी पर जाना पड़ता है। वह किसी और को यह काम नहीं करने देती है, मैं छोटा हूँ, इसलिये मुझे भी नहीं करने देती। मैं क्या करूँ?” परन्तु वह क्या कर सकता था? अगला दिन अपने साथ एक चमत्कार लेकर आया। पूर्णा नदी ने अपना घाट बदल दिया था और पास वाले घाट पर बह रही थी। कोई नहीं कह सकता कि किसी अदृष्ट शक्ति ने ऐसा किया था या संयोगवश हो गया था। परन्तु जल अब कृष्णामन्दिर तक आ पहुँचा था और संभावना थी कि वर्षाकाल में जल मन्दिर में प्रविष्ट हो जायेगा। शंकर ने स्थानांतरण करके विग्रह को एक ऊँचे स्थान पर प्रस्थापित कर दिया।

× × ×

“माँ! कोई आया है” एक छात्र ने ऊँची आवाज में पुकारा। शंकर घर पर नहीं था। वह पास के गाँव में गुरुजी को, जो कि अस्वस्थ थे, मिलने गया हुआ था। आर्याम्बा रसोई से बाहर आयी और आगन्तुकों को देखकर बोली, “आइए, आइए। बच्चों! सबके लिये आसन लाओ।” चारों अतिथि सुखपूर्वक आसनों पर बैठ गये।

“आप कौन हैं?”

“हम तिरुवन्तपुर में रहते हैं। ये दो न्यायशास्त्र के पण्डित हैं, ये ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता हैं और मैंने थोड़ा मीमांसा का अध्ययन किया है। हम वृषभाद्र में किसी के घर आये थे। आपके पुत्र के विषय में हमने बहुत सुना है उसी को देखने के लिये हम आये हैं। कहाँ है आपका पुत्र?”

“वह पास के गाँव में गुरु जी के दर्शन के लिये गया है। शीघ्र ही लौट आएगा। आप लोग बैठिए।” ऐसा कहकर आर्याम्बा ने गर्मी में आए अतिथियों को शीतल शर्बत पीने को दिया।

उनमें से जो ज्योतिषी था, उसे आर्याम्बा ने पुत्र की जन्मपत्री दिखायी। उन्होंने कुछ गणना करके कहा, “माता! यह एक असाधारण जन्मपत्री है। तुम्हारा पुत्र महान् विद्वान् बनेगा। इसके वाक्स्थान में बृहस्पति है। वह

निःसन्देह लोकपूज्य होगा। आप महाभाग्यवान् हैं कि आपको ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ है।”

“उसकी आयु और स्वास्थ्य कैसे रहेंगे?”

“उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहेगा।”

“और आयु?”

बहुत देर तक ज्योतिषी पत्री का परिशीलन करता रहा और फिर बोला, “माँ! आठवें साल में एक कण्टक है। उसके बाद चिन्ता नहीं है।”

“वह उस विपदा से निकल तो जाएगा न?”

ज्योतिषी ने और भी विस्तृत गणना करके उत्तर दिया, “माँ! इसके द्वारा अनेक महान् कार्य सम्पन्न होने हैं। अतः, वह उस कष्ट से छूटेगा ही छूटेगा।”

“मुझे इस कष्ट के निवारण के लिये अगर कोई जप और पूजा करनी है तो बताइये?”

“माँ! उसे बचाने के लिये स्वयं देवता जप करेंगे। आप चिन्ता छोड़कर भगवान् पर विश्वास रखो।”

उसी समय शंकर लौट आया और ज्योतिषी की बातें उसके कानों में पड़ी। घर में प्रवेश करते ही उसने प्रवरपूर्वक अपना परिचय देते हुये ब्राह्मणों को प्रणाम किया। ब्राह्मणों ने प्रयत्न किया कि शंकर उनके पैर न छुएँ और उन्होंने पैर पीछे खींचे। बाद में शास्त्रचर्चा हुयी। अन्त में भोजन करके अपने को धन्य मानते हुये अतिथियों ने विदाई ली।

× × ×

आर्याम्बा के चेहरे पर उदासी छायी रहती। वह चिन्ता और दुःख से घिरी हुयी थी। एकान्त में वह अश्रु बहाती परन्तु शंकर के सामने प्रसन्न रहने का प्रयत्न करती। माँ की मनोदशा शंकर से छुपी न रही। एक दिन उसने पूछा, “माँ! आपको क्या दुःख और चिन्ता सता रही है, कृपया मुझे बतायें।”

“कुछ भी तो नहीं है।”

“माँ! क्यों छिपा रही हो। बताओ न”

वह चुप रही ।

“माँ! यह शरीर नित्य नहीं है । पिताजी की मृत्यु से यह स्पष्ट है । पर क्या उनके निमित्त हम श्राद्धकर्म नहीं करते? वह हम किसके लिये कर रहे हैं? उनकी आत्मा के लिये ही । क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यद्यपि उन्होंने शरीर छोड़ दिया है पिताजी मरे नहीं हैं? शरीर मरता है, आत्मा नहीं । फिर तुम शोक क्यों करती हो?”

इन शब्दों को सुनते हुये आर्याम्बा केवल आँसू बहाती रही । दिन बीतते-बीतते वह और भी निरुत्साहित होती गयी । जीवन यन्त्रवत् चलता रहा । एक दिन अपनी माँ के पास बैठे हुये शंकर ने कहा, “माँ! मुझे आपसे कुछ पूछना है, पूछूँ?”

“पूछो बेटा ।”

“ज्योतिषी के कथनानुसार अगर मेरे शरीर का अन्त हो जाता है तो न तो कोई पिता का श्राद्ध करने वाला रहेगा न मेरा श्राद्ध करने वाला । ऐसे तो कर्म का लोप हो जायेगा । आप जानती हैं कि यह अनुचित होगा ।” माँ चुप रही ।

“शास्त्रसम्मत एक उपाय है । अगर आप कहें तो बताऊँ ।”

माँ फिर भी कुछ न बोली ।

“आगे के सारे श्राद्धों को एक में समुचित करके अभी एक काल में ही सब किये जा सकते हैं । ऐसे कर्मलोप नहीं होगा ।”

“इसका क्या अर्थ है?”

“इसका अर्थ यह है कि मुझे संन्यास लेना होगा, और वह आपकी अनुमति के बिना नहीं हो सकता ।”

माँ फूट-फूट कर रोने लगी । यही उनका उत्तर था ।

“माँ रोने से क्या लाभ है? सोच विचार कर आप मुझे बाद में बताना ।”

उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया और उठकर अन्दर चली गयी । बीच-बीच में शंकर उनसे पूछता रहता परन्तु वह कोई उत्तर न देती । इस प्रकार दिन बीतते रहे ।

एक दिन माँ ने शंकर से कहा, “मुझे स्नान के लिये नदी पर जाना है। धोने के बाद गीले कपड़े मेरे से नहीं उठते, तुम मेरे साथ चलो और वापसी में उन्हें उठा लेना। मैं यह काम किसी और से नहीं कराना चाहती।”

कपड़ों की पोटली लेकर शंकर माँ के पीछे-पीछे चला। कुछ शिष्य भी साथ हो लिये। नदी पर बहुत लोग थे। बालक पानी में डुबकी मारकर तैर रहे थे। बड़े स्नान करके अनुष्ठान कर रहे थे। एक तरफ धोबी मिलकर कपड़े धो रहे थे। दूसरे तट पर मछुआरे मछली पकड़ रहे थे। इधर आर्याम्बा साड़ी धोकर निचोड़ रही थी। तभी अचानक बहुत जोर से शंकर की आवाज आयी, “माँ! माँ! सब लोग अपने-अपने काम छोड़कर उधर ही देखने लगे। शंकर अभी भी चिल्ला रहा था “माँ! एक मगरमच्छ ने मेरी टाँग पकड़ ली है। जल्दी से मुझे संन्यास की अनुमति दे दो।” आर्याम्बा ने आसपास खड़े लोगों से प्रार्थना की, “भगवान् के लिये कोई मेरे बेटे को बचाओ”।

“माँ! जल्दी से अनुमति दे दो।”

“बेटे! जो तुम्हें ठीक लगे करो”, ऐसा कहकर आर्याम्बा बेहोश होकर गिर पड़ी। शंकर ने उच्च स्वर में “ओं भूः संन्यस्तं मया, ओं भुवः संन्यस्तं मया, ओं, सुवः संन्यस्तं मया” इस मन्त्र का उच्चारण किया और फिर “ओं भूः स्वाहा” कहकर अपना यज्ञोपवीत उतार कर जल में डाल दिया। इतने में धोबियों ने शंकर की कमर में रस्सी डाली और उसे तट की ओर खींचना शुरू कर दिया। दूसरी ओर से मछुआरों ने नाव में आकर मगर को भालों से बींध डाला। कुछ लोगों ने उस पर पत्थर फेंके। मगर पहले उलटा और फिर मरकर पानी की सतह पर तैरने लगा, सुरक्षित शंकर को तट पर लाया गया। बेहोश आर्याम्बा को “माँ! शंकर बच गया है, मगरमच्छ मर गया। उठो! उठो!” ऐसा कहकर लोगों ने चेतना दिलायी। आर्याम्बा उठी और लड़खड़ाते कदमों से हुये अपने पुत्र का आलिंगन किया। परन्तु शंकर बिना किसी प्रतिक्रिया के स्थिर खड़ा रहा। मगर द्वारा दिया हुआ घाव अभी तक बह रहा था। एक मछुआरा कुछ पत्तियाँ लेकर आया और उनको पीसकर घाव पर लेप लगाया। खून बहना बन्द हो गया।

आर्याम्बा ने कहा, “बहुत हो गया। अब आगे से तुम यहाँ स्नान करने नहीं आओगे। चलो, घर चलें।”



शंकर अपने स्थान से नहीं हिला।

“चलो बेटा!”

मछुआरों ने सोचा कि वह चलने में असमर्थ है इसलिये उसको उठाने के लिये आगे आये।

“मुझे छोड़ो। मैं चल सकता हूँ।”

“तो क्या है? आओ चलो।” माँ ने कहा।

“अब मैं एक सन्यासी हूँ। मैं घर नहीं जा सकता।” माँ हक्की-बक्की रह गयी। उसके मुँह से शब्द न निकले। पास खड़े एक वृद्ध ने कहा, “तुम आठ साल के बच्चे हो। तुम्हारा संन्यास लेने का क्या अर्थ है?”

किसी और ने कहा, “संन्यास तो केवल उनके लिये होता है जो अपने जीवन का भार स्वयं नहीं उठा सकते जैसे कि अन्धे या लूले-लंगड़े लोग। तुम्हें संन्यास लेने की क्या आवश्यकता है? तुम्हारे पास तो घर है, बड़े-बड़े बाग-बागान हैं।”

एक और वृद्ध ने कहा, “बेटा! अगर कोई संन्यास लेना भी चाहता है तो उसमें एक क्रम होता है या नहीं? पहले गृहस्थ बनना होता है, फिर साठ वर्ष बाद वानप्रस्थ होना होता है और अन्त में संन्यास लेते हैं। क्या पैदा होते ही कोई संन्यास लेता है?”

शंकर ने उनसे बहस नहीं की। आखिर में एक और वृद्ध बोला, “बेटा! बात सुनो। तुम्हारी माँ बिल्कुल अकेली है। उसका तुम्हारे सिवाय कोई नहीं है। क्या उसको ऐसे छोड़कर जाना उचित होगा? तुम ही बताओ। मातृदेव भव, पितृदेव भव, ऐसा तुम ही कहते हो। तुम्हारे पिता की मृत्यु हो चुकी है। तुम्हारी विधवा माँ ने तुम्हें कितने कष्टों से पाला है क्या तुम भूल गये हो? कुछ तो सोचो। जल्दबाजी न करो।”

आर्याम्बा जो सब कुछ चुपचाप सुन रही थी आखिर में बोली, “ऐसा न करो बेटा। अपने बड़ों की बात मानो। आओ घर चलो।”

“माँ! आपकी अनुमति से ही मैंने संन्यास लिया है। माता! सबके सामने और पंचभूतों के साक्षित्व में मैंने संन्यास लिया है। मेरा अब घर वापिस लौटना उपयुक्त न होगा।”

“हाय मेरा भाग्य!” ऐसा कहकर आर्याम्बा विलाप करने लगी। शंकर अचल खड़ा रहा। बड़े बूढ़ों ने बहुत कोशिश की। जिसको जो शास्त्र आता था, उसी का सहारा लेकर उन्होंने शंकर के संन्यास लेने को अनुपयुक्त बताया। उपस्थित स्त्रियाँ आँसू बहाने लगीं। मित्र को छूटता देखकर बालकों में उदासी छ गयी।

आखिर में शंकर ने दृढ़ता से कहा, “संन्यासी बनने के बाद मेरा घर लौटना धर्मानुकूल न होगा।”

“तो तुम मुझे घर में अकेला मरने के लिये छोड़ दोगे?”

“माँ! धैर्य रखो। मैं अब एक संन्यासी हूँ। तुम अकेली नहीं होगी। सम्बन्धी आते-जाते रहेंगे। विद्यार्थी भी आपका ध्यान रखेंगे। आपको कोई तकलीफ नहीं होगी। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपके अन्तिम समय में मैं अवश्य आपके पास आऊँगा। मुझे आशीर्वाद दो।” इतना कहकर शंकर ने माँ को साष्टांग नमस्कार किया, फिर उठा और पीछे देखे बिना दूसरे तट पर स्थित कृष्ण मन्दिर में भगवान् को प्रणाम करके चला गया। सब वृद्धजन अत्यन्त कुपित हुये।

• • •

## अध्याय दो कालड़ी से ओंकारेश्वर

वह कहाँ जा रहा था? जंगलों, पर्वतों, गुफाओं और नदियों को पार करता हुआ। किसलिये? एक सद्गुरु की खोज में। कभी उसे वनवासी, मछुआरे या यात्री मिलते, इसके सिवाय मार्ग में किसी मनुष्य से सम्पर्क नहीं होता। उसकी खोज जारी रही। “यहाँ कोई सिद्ध या महापुरुष है?” इस प्रश्न पर लोग उसे दूर कोई स्थल दिखाते परन्तु वहाँ उसे गुरु न मिलता। चलता हुआ वह मंगलूर के समुद्रतट पर पहुँचा। ऊपर झुलसाता सूर्य था। क्या कुछ खाने को मिलेगा? थकान के कारण शंकर धरती पर गिर पड़ा। पास की झोंपड़ियों से मछुआरे दौड़कर आये और उसे जल पिलाया। शंकर ने कहा कि वह अत्यन्त भूखा है। उसे दूध पीने को दिया गया। उन्होंने उसके पैर के घाव के विषय में पूछा। उसने बताया कि एक मगरमच्छ ने उसे पकड़ लिया था। “आप लोग हमेशा सुख से रहें।” ऐसा आशीर्वाद देकर शंकर आगे बढ़ा। इस प्रकार उसकी खोज चलती रही।

आगे चलते हुए शंकर शृंगेरी पहुँचे। वहाँ उन्होंने भिक्षा से भोजन प्राप्त किया। विश्राम करने के लिये वह तुंग नदी के तट पर बैठ गये जहाँ उन्होंने एक विस्मयकारी दृश्य देखा। उस कड़ी धूप में एक मेंढकी पत्थर के नीचे अण्डे दे रही थी। एक नाग फन फैलाये उसे संरक्षण दे रहा था। “अवश्य ही यह कोई पवित्र स्थान है”, शंकर के मन में आया। किन्तु गुरुप्राप्ति अभी तक नहीं हुयी थी। उसे “तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्” यह श्रुतिवाक्य स्मरण हो आया और उसने दृढ़ निश्चय किया कि जब तक गुरु नहीं मिल जाते तब तक वह चैन से नहीं बैठेगा। किसी ने उसे मूकाम्बिका जाने की सलाह दी। वहाँ उसे देवी के दर्शन तो हुये परन्तु गुरु के दर्शन नहीं हुये। पैरों से चलते हुये वह आखिरकार नर्मदा के तट पर पहुँचा। वहाँ किसी ने उसे बताया, “ओंकारेश्वर में एक वृद्ध महान् सिद्ध पुरुष हैं जिनका नाम है गोविन्द गुरु। वे सबके श्रद्धेय हैं, दूर-दूर से आये यात्री उनका दर्शन करे बिना नहीं जाते।”

शंकर को वहाँ जाने का मार्ग दिखलाया गया। शंकर वहाँ की ओर बढ़े। दूर से उन्होंने कुछ कषाय वस्त्र सूखते देखे जो गुरु के निवासस्थान का संकेत दे रहे थे। वे फड़फड़ाते वस्त्र मानों शंकर का हृदय से स्वागत कर रहे थे। नर्मदा में स्नान करके शंकर गुरु के दर्शन के लिये गये।

निकट ही एक गुफा थी जिसके आसपास कोई नहीं था। शायद शिष्य भिक्षा करने गये होंगे। शंकर ने झाँककर भीतर देखा, अन्दर गोविन्द गुरु आँखें मूँदे पद्मासन में बैठे थे। उस मुख का दर्शन करते ही शंकर समझ गये कि उनकी खोज समाप्त हो गयी है। उनका हृदय आनन्द से भर गया। बिना नमस्कार किये शंकर बाहर प्रतीक्षा में बैठ गये। इतने में शिष्य भिक्षा लेकर लौट आये। शंकर खड़े हुये और उनमें सबसे ज्येष्ठ के पास जाकर नमस्कार किया। “आपको क्या चाहिए?”, ज्येष्ठ शिष्य ने प्रश्न किया।

“मैं गुरुजी के दर्शन के लिये आया हूँ।”

“गुरुजी अभी समाधि में हैं। आप उनसे नहीं मिल सकते।”

“मैं यहीं बैठकर उनकी प्रतीक्षा करूँगा।”

“तुमने भोजन कर लिया क्या?”

“नहीं।”

शिष्य ने कुछ भोजन पत्ते में रखकर उससे खाने को कहा। परन्तु शंकर ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि वह गुरु के दर्शन से पहले कुछ भी नहीं खायेंगे।

“वह कब उठेंगे कुछ निश्चित नहीं है।”

“कोई बात नहीं। मैं तब तक प्रतीक्षा करूँगा।”

गोविन्द गुरु न उस दिन उठे, न हि अगले दिन। तीसरे दिन उन्होंने अपनी आँखें खोलीं। शिष्यों ने उन्हें शंकर के आने की सूचना दी। उन्होंने उसे गुफा में लाने के लिये कहा। शंकर ने गुफा में प्रवेश किया और ‘न कर्मणा न प्रजया’ मन्त्र का उच्चारण करते हुये उन्हें साष्टांग नमस्कार किया।

“बालक! मैंने सुना है कि तुमने दो दिन से कुछ नहीं खाया। पहले जाओ कुछ खा लो। उसके बाद बात करेंगे।” कुछ हल्का-फुल्का खाकर शंकर वापिस आये। और गुरु के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

“तुम बहुत थके हुए हो। बैठ जाओ। तुम्हारा नाम क्या है?”

“लोग मुझे शंकर बुलाते हैं।”

“तुम कहाँ के हो?”

“मैं केरल के कालड़ी ग्राम से आया हूँ।”

“तुम्हारा उपनयन नहीं हुआ क्या?”

“हुआ था। चार मास पहले मैंने आपत्संन्यास ग्रहण किया था। तब मैंने यज्ञोपवीत को नदी में प्रवाहित कर दिया।”

गुरुजी ने आश्चर्य से भौंहे उठाकर देखा, “क्या इसीलिये तुमने बिना हाथ में समित् लिये नमस्कार किया?”

“जी हाँ”, शंकर ने उत्तर दिया।

“तुमने आपत्संन्यास क्यों लिया?”

शंकर ने जो कुछ हुआ था वह विस्तार से उन्हें निवेदन कर दिया।

“तुम्हारा उपनयन कब हुआ था?”

“तीन वर्ष की आयु में।”

“उसके बाद क्या तुम गुरुकुल गये थे?”

“हाँ।”

“वहाँ तुमने कितने समय अध्ययन किया?”

“डेढ़ साल”

“वहाँ तुमने क्या पढ़ा?”

“वेदाध्ययन किया।”

“कौन सा वेद?”

“चारों वेद।”

सब शिष्य यह सुन कर अवाक् रह गये। आश्चर्य से उनके मुँह खुले के खुले रह गये।

“और क्या पढ़ा?”

“षडंग और कुछ व्याकरण।”

“और पूर्वमीमांसा?”

“नहीं, पूर्वमीमांसा का अध्ययन नहीं किया।”

गुरुजी ने वेदों में से यत्र-तत्र कुछ मन्त्र शंकर से सुनाने के लिये कहा। षडंग और व्याकरण से सम्बन्धित भी कुछ प्रश्न पूछे। शंकर ने सबका उपयुक्त उत्तर दिया। सब शिष्य विस्मित रह गये। गुरुजी समझ गये कि यह कोई सामान्य बालक नहीं है। “इतनी कोमल आयु का होने पर भी कितना पाण्डित्य है। कितना दृढ़ संकल्प है। इसका अवतार धर्म के उद्धार के लिये ही हुआ है”, ऐसा विचार कर गोविन्द गुरु ने शंकर को समुचित प्रशिक्षण देने का निश्चय किया “कुछ समय में ही तुम्हारा क्रम संन्यास होगा। तब तक तुम गायत्री उपासना करो। मार्जन, प्राशन आदि कर्म की आवश्यकता नहीं है। अर्घ्य प्रदान करके ही उपासना शुरू कर सकते हो। अब जाओ। निर्मलचैतन्य! शंकर के रहने की व्यवस्था करो।” ऐसा एक शिष्य को निर्देश देकर उन्होंने शंकर को भेज दिया।

शंकर अपनी आयु के अनुरूप सेवा देता और भिक्षा के लिये जाता था। बाकी का समय वह गायत्री उपासना में ही बिताता था। बहुत बार वह बाह्य-प्रजा से रहित हो ध्यान में रहता था, ऐसी अवस्था में गुरु जी ही उसे उठाते।

एक दिन गुरुजी ने शंकर को बुलाकर कहा, “मैं तुम्हें जीवों सहित इस जगत् का सृष्टिक्रम बताता हूँ, सुनो।”

फिर गुरुजी ने उपदेश आरंभ किया—“जगत् की सृष्टि और लय का चक्र चलता रहता है। इसका न आदि है न अन्त। वह सदैव चलता रहता है।”

“इस सृष्टि से पूर्व केवल ब्रह्म था। वह चेतन है और इतना सूक्ष्म है कि उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता। किन्तु जिस प्रकार बरगद के बीज में सूक्ष्म रूप से एक बड़ा बरगद का वृक्ष रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अन्तर्भूत रहता है। जिस प्रकार जल से उत्पन्न होने से पहले भी बर्फ जल में जल रूप में रहती है, उसी प्रकार जगत् सृष्टि से पूर्व ब्रह्म में ब्रह्म रूप से रहता है। यही है ब्रह्म की शक्ति। इसको अपरा प्रकृति कहते हैं। आगे

चलकर यही जगद्रूप को प्राप्त होती है। जगत् में होने वाले समस्त व्यवहारों का कारण है ब्रह्म की क्रियाशक्ति प्राण। इसको परा प्रकृति कहते हैं। जब ब्रह्म में सृष्टि की इच्छा होती है तो इस प्राणबल का आधार लेकर अपरा प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। अपरा प्रकृति सहित ये सात तत्त्व अष्टधाप्रकृति कहे जाते हैं।

“तन्मात्रा क्या होती हैं?”

“तन्मात्रा का अर्थ है केवल एक गुण से युक्त। जैसे शब्दतन्मात्रा केवल शब्दगुण से युक्त होती है। उसी प्रकार दूसरी तन्मात्राएँ भी। इसीलिये, सृष्टि अच्छी तरह विचारकर सावधानी से करनी होती है। इसके लिये मन और बुद्धि आवश्यक है। वह मन अत्यन्त निर्मल होना चाहिए और बुद्धि अतिसूक्ष्म और दृढ़। वे हमारे मन और बुद्धि की तरह चंचल और अस्थिर नहीं होने चाहिए। परमात्मा के संकल्प से ऐसी बुद्धि महत् से उत्पन्न होती है और ऐसा मन अहंकार से उत्पन्न होता है। इस मन और बुद्धि से सम्बन्धित जो चेतन है वह हिरण्यगर्भ है। पिछली सृष्टियों में वह महातपस्वी और महायोगी था। तपस्वियों और योगियों में उसके समान या उससे अधिक कोई नहीं था। जगत् सृष्टि स्वयं करने की इच्छा से उसने महान् तपस्या की थी। उसके फलस्वरूप परमात्मा की आज्ञा से उसे उस स्थान की प्राप्ति होती है।”

“तो क्या वह प्रथम जीव है?”

“हाँ। परन्तु हमारी तरह उसका स्थूल शरीर नहीं होता। वह पंचमहाभूतों की सृष्टि इस प्रकार करता है कि जब पंचतन्मात्रों की राशि से शब्दतन्मात्रा निकाली जाती है तो उसकी स्पन्दन सक्रिय हो जाती है और शब्दगुणयुक्त आकाश महाभूत उत्पन्न होता है। जब स्पर्शतन्मात्रा निकालता है तो उसकी स्पन्दन सक्रिय होती है और शब्द और स्पर्शगुणों से युक्त वायु महाभूत उत्पन्न होता है। उसी प्रकार रूपतन्मात्रा को निकालने पर शब्द, स्पर्श और रूप से युक्त तेज उत्पन्न होता है, और रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है जो शब्द, स्पर्श, रूप और रस से युक्त होता है। गन्धतन्मात्रा से शब्द, स्पर्श,

रूप, रस और गन्ध से युक्त पृथ्वी उत्पन्न होती है। पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों के इस सृष्टिक्रम को पंचीकरण कहते हैं। जिस प्रकार मन और बुद्धि की सृष्टि होने पर हिरण्यमार्ग प्रकट हुआ, उसी प्रकार इन पंचमहाभूतों के साथ प्रजापति प्रकट होता है। आगे होने वाली सृष्टि का निर्वाहक प्रजापति ही होता है।”

“सृष्टिकार्य को आगे बढ़ाने के लिये प्रजापति तेज, जल और पृथिवी महाभूतों को किसी परिमाण में मिलाते हैं। इन तीनों में तेज की बाकी दोनों पर प्रधानता रहती है। इससे असंख्य तेजस्वियों की उत्पत्ति होती है जैसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, बिजली इत्यादि। इसी प्रकार, जब जल की प्रधानता से मिश्रण किया जाता है तो असंख्य जल उत्पन्न होते हैं जैसे कि पानी, दूध, फल के रस इत्यादि। जब पृथिवी की प्रधानता रखकर तीनों महाभूतों का मिश्रण किया जाता है तो असंख्य प्रकार की मिट्टी उत्पन्न होती है। इस मिश्रण की प्रक्रिया को त्रिवृत्करण कहते हैं। इससे उत्पन्न पदार्थ असंख्य देवताओं के निवास स्थान हैं। पुनः सूर्य के तेज, वर्षा के जल और पृथिवी के मिश्रण से वृक्ष, लता, झाड़ियाँ इत्यादि उत्पन्न होती हैं। इनमें विद्यमान तेज, जल और पृथिवी के मिश्रण से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं। इनमें से जो आरंभ में जन्म लेते हैं वे साक्षात् पृथिवी में से ही निकलते हैं। अतः उनको अयोनिज ब्रह्मानस पुत्र और पुत्री कहते हैं। मनु, शतरूपा, मरीची आदि सप्तऋषि, सनकादि, कर्दम इत्यादि प्रजापति इसी प्रकार जन्म लेते हैं। ये सब पूर्वसृष्टियों में महान् सिद्धपुरुष थे। अपनी तपस्या के फलस्वरूप ये सृष्टि के आरंभ में जन्म लेते हैं और आगे जन्म लेने वाली प्रजा के मार्गदर्शक बनते हैं। बाद में मनु-शतरूपा के पुत्र-पौत्रों से मानवजाति की वृद्धि होती है। इनको मानव इसीलिये कहा जाता है (मानव=मनु से उत्पन्न)। उसके बाद अपनी योगशक्ति से अन्य प्राणियों के रूप धरकर उन प्राणियों की सृष्टि में कारण बनते हैं।”

शंकर ने पूछा, “मैंने सुना है कि सृष्टिकर्ता परमेश्वर है। वह कौन है? उसका ब्रह्म से क्या सम्बन्ध है?”

गुरुजी ने उत्तर दिया, “मैंने तुम्हें बताया था कि परा प्रकृति और अपरा



प्रकृति दोनों ब्रह्मशक्ति हैं। इन दोनों के द्वारा जाना गया ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। उदाहरण के लिये, सोने की अंगूठी का आकार भी सोना ही है परन्तु आकार के द्वारा जाना गया सोना अंगूठी कहलाता है। उसी प्रकार यहाँ पर भी।”

“जगत्सृष्टि का उद्देश्य क्या है?”

“जीवों के कर्म के लिये और भोग के लिये। यदि जगत् न हो तो न कर्म हो सकते और न भोग। अतः सृष्टि होती है।”

गुरुजी द्वारा दिये गये इस उपदेश के आधार पर शंकर ने तैत्तिरीय उपनिषद और छान्दोग्य उपनिषद का गंभीर अध्ययन किया। विविध उपनिषदों में सृष्टिक्रम अलग-अलग प्रकार से वर्णित होने के कारण सामान्य जनों को उसमें विरोध दिखता है। परन्तु शंकर समझ गये कि कहीं कोई विरोध नहीं है।

× × ×

सभी शिष्यों में गुरुसेवा का अत्यधिक उत्साह था। परन्तु गुरुजी को सब शिष्यों की सेवाएँ स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं थी। इसलिये यह नियम किया गया कि एक-एक शिष्य एक-एक सेवा किया करे। एक दिन गुरुजी की भिक्षा लाने का कार्य शंकर को सौंपा गया। उसने भिक्षा लाकर परोसी, बाद में उस स्थल की सफाई की और फिर स्वयं भोजन किया। बाद में गुरुजी के कहे वाक्यों का मनन करता हुआ वह बहुत समय तक नर्मदा के तट पर टहलता रहा। चिन्तन तीव्र होने लगा तो वह एक शिला पर बैठ गया। ‘तस्य क्व मूलं स्यात् अन्यत्रान्नात्?’ अन्नेन शुद्धेन आपोमूलमन्विच्छ, अद्भिः शुद्धेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा शुद्धेन सन्मूलमन्विच्छ’-इस शरीर के लिये अन्न से अतिरिक्त और क्या कारण था? अन्न नामक कार्य के द्वारा जल नामक मूल का अन्वेषण करो। जल नामक कारण के द्वारा तेज नामक मूल को ढूँढो, तेज के द्वारा सत् नामक कारण का अन्वेषण करो, यह छान्दोग्यवाक्य उसके स्मृतिपटल पर उभरा और चिन्तन का अवसर दिया, “यह शरीर अन्न से आया है। तो शरीर का सार अन्न ही हुआ। उसी प्रकार, जल अन्न का सार और तेज जल का सार है। इस प्रकार उसका मन शरीर के पूर्व-पूर्व कारणों

से होता हुआ पंचभूतात्मक शरीर से युक्त प्रजापति में जा ठहरा। वहाँ उसे पितृलोक, स्वर्गादि देवलोक, इन्द्रलोक इत्यादि दिखायी दिये। वहाँ से प्रजापति के मूल हिरण्यगर्भ के पास गया। वहाँ उसने अवर्णनीय दृश्य देखे।

‘अहो! ये क्या है? ये दोनों समुद्र कौन से हैं?’

‘अर और ण्य’

‘कितना आश्चर्यजनक है। यह सरोवर कौन सा है?’

‘ऐरयदीय-अन्न का सार। इसका सेवन करके महान् हर्ष होता है।’

‘यह अश्वत्थ कौन सा है?’

‘यह अमृतस्रावी वृक्ष है।’

‘तो क्या यह ब्रह्मलोक है?’

‘हाँ।’

‘यह स्वर्णमण्डप कौन सा है?’

‘यह प्रभु द्वारा निर्मित है।’

‘यह सब क्या है?’

‘आप ही देखो।’

शंकर ने जहाँ से शब्द आ रहा था वहाँ देखा। वहाँ कोई नहीं दिखायी दिया। शब्द कहाँ से आ रहा था यह स्पष्ट पता नहीं पड़ा। इन विचित्र दृश्यों को देखकर उसका मन विचलित हो गया। बन्द आँखें खुल गयीं। सामने चिरपरिचित नर्मदा थी। अभी तक जो देखा था वह आधे क्षण में ही अदृश्य हो गया। पुनः चिन्तन आरंभ हुआ।

‘मैंने जो अभी तक देखा वह सपना था या सत्य है?’

‘स्वप्न और सत्य में क्या भेद है?’

‘जागते ही जो नष्ट हो जाता है वही स्वप्नलोक है। वह फिर दिखायी नहीं देता। किन्तु जाग्रदवस्था का जगत् ऐसा नहीं है। पिछले दिन देखा हुआ ही फिर से दिखायी देता है। पिछले दिन के अधूरे कार्य को आज आगे बढ़ाया जा सकता है। अतः जाग्रत जगत् सत्य है।’